

ग

गजानन माधव मुक्तिबोध-1

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष)

(Gajanan Madhav Muktibodh-1)

हिंदी साहित्य में छायावादोत्तर साहित्य-सृजन और चिंतन की प्रमुख हस्ती के रूप में गजानन माधव मुक्तिबोध (1917-1964) ने 'आत्मा के कारखाने में बैठ कर' नये सृजन का समाजशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र रचा। अज्ञेय द्वारा सम्पादित *तार सप्तक* (1943) के कवि होने के नाते ख्याति प्राप्त करने के बाद मुक्तिबोध ने आलोचना की सभ्यता-समीक्षा का एक नया इतिहास शुरू किया। एक रचनाकार और आलोचक के रूप में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र गढ़ने में अर्पित कर दी। इसके लिए उन्होंने प्रगतिवादी खेमे के साथियों के रवैये को भी आड़े हाथों लेने से संकोच नहीं किया। हिंदी के प्रायः सभी आलोचक उनकी कविता को 'भयानक-खबर की कविता' कहते हैं। राजनीतिक आतंक और सामाजिक-शोषण को सघनता से रेखांकित करने के कारण मुक्तिबोध को जनता का जनवादी कवि कहा गया है।

मुक्तिबोध का गद्य-पद्य प्रायः विचारधारा का अतिक्रमण करता है। सृजन-चिंतन के शिखर-क्षणों में वे न तो मार्क्सवादी होते हैं न अस्तित्ववादी। वे एक ऐसे भारतीय कवि के रूप में उभरते हैं जो लकीर का फ़क़ीर न होकर संस्कारित भारतीयता का प्रखर रूप ग्रहण करता है। मुक्तिबोध की विख्यात लम्बी कविता 'अँधेरे में' का काव्य-नायक तिलक-गाँधी के दर्शन से नया जीवन-अर्थ पाता है। भारतीय जीवन की विवेकानंदी-गाँधीवादी लय मुक्तिबोध का



गजानन माधव मुक्तिबोध (1917-1964)

संसार रही है। आधुनिक भारतीय इतिहास पर लिखी उनकी पुस्तक इसका साक्ष्य है। मार्क्सवादियों में प्रचलित रवैये के विपरीत मुक्तिबोध ने गाँधी को लोक नायक-जननायक कहा है। उनकी प्रश्नाकुलता ने साहित्य-समीक्षा में न जाने कितने नये प्रश्न उठाए। उनके 'पाठ' में न जाने कितने अर्थों की अनुगूँज है। अपनी सर्जनात्मक बेचैनी के कारण मुक्तिबोध निरंतर एक नयी काव्य-भाषा की खोज करते रहे और इस प्रक्रिया में उनकी भाषा 'काव्यात्मक' न रह कर वैचारिक गद्य के विन्यास में सामने आयी।

मुक्तिबोध का जीवन उनकी कविताओं में भिन्न-भिन्न रूपों में आया। उनके अनुभव सुने हुए नहीं, भोगे हुए हैं। वे नवम्बर, 1917 में श्योपुर (ग्वालियर) में जन्मे थे। नागपुर विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एमए करने के बाद बड़नगर मिडिल स्कूल में अध्यापकी से आजीविका अर्जन आरम्भ किया। थोड़े-थोड़े समय उज्जैन, शुजालपुर, इंदौर, कलकत्ता, बम्बई, बंगलुरु, बनारस, जबलपुर और नागपुर में रहे। 1958 में दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगाँव में नियुक्त हो गये। 11 सितम्बर, 1964 में बीमारी के कारण निधन हो गया। इस रचनाकार ने धनाभाव के कारण न जाने कितनी परेशानियाँ झेलीं, लेकिन पराजित नहीं हुआ। वह जीवन की आस्था का अटूट रचनाकार बना रहा। उसका व्यक्तित्व खण्डित नहीं है। उनका रचना-कर्म हमारी बातों को हमें ही सुनाता रचना-कर्म है। मुक्तिबोध की प्रकाशित पुस्तकों में *चाँद का मुँह टेढ़ा है, भूरी भूरी खाक धूल* (कविता संग्रह), *काठ का सपना, विपात्र, सतह से उठता आदमी* (कथा साहित्य), *कामायनी : एक पुनर्विचार, नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* (इसी का नया संस्करण आखिर रचना क्यों? शीर्षक से प्रकाशित), *एक साहित्यिक की डायरी और भारत : इतिहास तथा संस्कृति*। मध्य प्रदेश सरकार ने *भारत : इतिहास तथा संस्कृति* को ज़ब्त किया, लेकिन मुक्तिबोध टूट कर भी झुके नहीं। नेमिचंद्र जैन के सम्पादन में छह खण्डों में उनकी रचनावली का प्रकाशन भी हुआ है।

मुक्तिबोध की प्रथम आलोचनात्मक कृति *कामायनी : एक पुनर्विचार* का प्रकाशन 1961 में हुआ। इस विषय के दो लेख *कामायनी : कुछ नये विचार* शीर्षक से क्रमशः हंस के नवम्बर, 1945 और फ़रवरी, 1946 के अंकों में निकलते ही धूम मचा चुके थे। प्रसाद की कालजयी समझी जाने वाली रचना *कामायनी* पर विचार करने के कारणों पर खुद उनका कहना था : 'कामायनी साहित्य के रसवादी-छायावादी पुराणपंथियों के हाथ में, नवीन प्रगति-शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र बन गयी।' इतना ही नहीं 'भाववादी आलोचकों ने प्रसादजी से आगे बढ़कर *कामायनी* का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्त्वों को प्रच्छन्न कर दिया।' *कामायनी* को लेकर अनेक आलोचकों ने जो भ्रांतियाँ फैलायी थीं। उनके निवारण का मुक्तिबोध ने गम्भीर प्रयास किया। दिलचस्प बात यह है कि मार्क्सवादी मुक्तिबोध का मतभेद मार्क्सवादी रामविलास शर्मा से भी कम नहीं रहा। चिंतन में दोनों दो अलग-अलग ध्रुवों पर रहे। दिलचस्प बात यह है कि राम विलास शर्मा ने उनकी कविता को रहस्यवादी-अस्तित्ववादी करार दिया है।

इस आलोचना के बावजूद प्रगतिवाद के प्रखर और मौलिक चिंतक-आलोचकों में मुक्तिबोध का नाम सर्वाधिक प्रमुख है। मुक्तिबोध ने इस विचार को लेकर गहरा दुःख

व्यक्त किया है कि छायावादी और प्रगतिवादी आलोचकों ने प्रयोगवाद और नयी कविता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने-समझाने का प्रयास नहीं किया। वे यही कहते रहे कि प्रयोगवाद-नयी कविता का जन्म तो प्रगतिवाद का गलाघोट कर हुआ है। नयी कविता का और नयी प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन न हो पाने के कारण मुक्तिबोध प्रगतिवादी आलोचकों से ज़्यादा नाराज़ दिखते हैं। वे मानते थे कि सच्चा मार्क्सवादी ही सही सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों की गहराई में जाकर इन नयी प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण कर सकता है। उनका आरोप था कि सिद्धांतों की थानेदारी के कारण प्रगतिवादियों ने नयी कविता का पूरा क्षेत्र अपने प्रतिपक्षियों को सौंप दिया।

मार्क्सवादी मुक्तिबोध साहित्य में भाववादी-कलावादी-व्यक्तिवादी-लघुमानववादी और व्यक्तित्व-स्वातंत्र्यवादियों के सिद्धांतों के खिलाफ़ थे। नयी कविता में लघुमानव वाला सिद्धांत उनका चैन हराम किये था। उन्हें लगता था कि किसी ज़माने में प्रयोगवाद प्रगतिवाद के नज़दीक था, लेकिन आपसी कलह के कारण दोनों अलग हो गये। उनका कहना था कि इसमें ज़्यादा ग़लती प्रगतिवादियों की थी : 'प्रगतिवादी प्रवक्ताओं ने अपनी वही पुरानी छर्रेवाली बंदूक और वही पुराने तमचे निकाले जिनकी आज कोई क्रीमत नहीं।' उनके पास मध्यवर्गीय अंधसिद्धांतवादी अहंकार था और कला संबंधी समस्याओं में उनकी गति नहीं थी। साथ ही नये लेखकों से वे तन कर चलते थे। इस स्थिति के कारण मुक्तिबोध को अपने ही प्रगतिवादी मित्रों से वैचारिक युद्ध करते हुए उनकी कला संबंधी समस्याओं से जूझना पड़ा। मुक्तिबोध को अपना पूरा सैद्धांतिक चिंतन *नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, नये साहित्य का सौंदर्य-शास्त्र, एक साहित्यिक की डायरी और तार सप्तक* के कवि व्यक्तित्व में करना पड़ा। मुक्तिबोध की दृष्टि के संघर्ष का एक बड़ा हिस्सा नयी कविता के व्यक्तिवादी-रूपवादी अंतर्मुखी सिद्धांतों से टकराने वाला रहा। फलतः उन्होंने ज़ड़ीभूत सौंदर्याभिरुचियों पर जम कर प्रहार किये। उन्होंने पाया कि 'ग़रीब जनता और खादीधारी नेता के बीच, क्लर्क और अफ़सर के बीच की तो दूरियों का तो क्या कहना, मानव संबंध टूट-फूट गये हैं, उलझ गये हैं। समाज में शोषितों-उत्पीड़कों और उनके साथियों का जोर बढ़ गया है।' नयी कविता में दो दल हो गये हैं एक दल के नेता हैं-अज्ञेय, दूसरे ग़रीबदल के नेता हैं मुक्तिबोध। उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ उनके साहित्य संबंधी सिद्धांतों में लक्षित होती हैं।

मुक्तिबोध की नयी दृष्टि के मूल में जीवन-जगत के आंतरिक द्वंद्वों का बड़ा हाथ रहा। उन्होंने स्वीकार किया कि 'क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त

हुआ।' वे कलाकार के स्थानांतरगामी (माइग्रेशन इंस्टिक्ट) पर बहुत जोर देते हैं। सम्पूर्ण जीवन को भीतर-बाहर से देखने की बलवती स्पृहा ने ही उन्हें कवि और आलोचक बनाया। उन्होंने कविता की व्याख्या को विकासमान सामाजिक वस्तु बनाया। मुक्तिबोध ने कहा है कि काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है—काव्य में संस्कृति एवं परम्परा का समाहार होता है। अतः नयी कविता के आत्मसंघर्ष में मुक्तिबोध का अपना आत्मसंघर्ष भी जुड़ा रहा।

चूँकि नयी कविता की प्रवृत्ति आचार्यों, पण्डितों, आलोचकों को समझ में नहीं आ रही थी इसलिए मुक्तिबोध को बहस में उतर कर समझाना पड़ा कि नयी कविता नये भावबोध की कविता है, जिसमें संघर्ष, तनाव, पीड़ा का द्वंद्व विद्यमान रहता है। यही कारण है कि मुक्तिबोध को नयी कविता के सिद्धांतकार की भूमिका में जूझना पड़ा। वे मानते हैं कि कविता वैयक्तिक प्रयास कम और सांस्कृतिक प्रयास ज्यादा है। इसी कारण से मुक्तिबोध कहते थे कि 'कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया-घातों को प्रकट करना चाहती है'। उनका विचार था कि ज्ञानपक्ष संवेदना के पक्ष से हटते ही काव्योपयोगी नहीं रहता। आज की कविता को परिभाषित करना कठिन है क्योंकि वह अपने परिवेश के साथ द्वंद्व की स्थिति में रहती है। इसीलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है। नयी कविता वास्तविकता को प्रस्तुत करने के लिए ही भावपक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करती है। इससे नया कवि तीन क्षेत्रों में संघर्ष करता है : तत्त्व के लिए संघर्ष, अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष और दृष्टि-विकास के लिए संघर्ष। इनमें पहले का संबंध वास्तविकता से, दूसरे का संबंध चित्रण-सामर्थ्य से और तीसरे का संबंध थियरी से यानी विश्व दृष्टि के विकास से है। जीवन-जगत के उद्वेलन से वस्तु-तत्त्व तरंगायित होकर मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित होता है। वह जीवन-मूल्यों और पूर्व अनुभवों से आलोकित होकर अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है। इस तरह काव्य समस्याओं, अनुभवों जीवन-मूल्यों के संश्लिष्ट चित्रण, जीवन चित्रों में व्यापकता से, गहराई से उपस्थित करता है। इस प्रकार कला के तीन लक्षण होते हैं। प्रथम क्षण जब तरंगायित होकर अंतर्तत्त्व मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं। दूसरा क्षण जब मानसिक-दृष्टि इस तत्त्व रूप में उसके रस में निमग्न होने लगती है। कला का तीसरा क्षण मानसिक अभिव्यक्ति के लिए छटपटाहट का प्रश्न है। हमारे लिए भाषा सामाजिक है— उसे नवीन वक्रोक्तियों-भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है।

मुक्तिबोध की व्याख्याओं पर क्रिस्टोफ़र कॉडवेल और ग्योर्गी लूकाच के विचारों की छाप है। इसी विचार के कारण मुक्तिबोध कविता को सामाजिक-सांस्कृतिक-प्रक्रिया

मानते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार कविता आत्मोद्घाटन मात्र न होकर आत्मप्रकटीकरण है और जीवन-जगत को समेटने वाली सांस्कृतिक-प्रक्रिया है। कवि भीतर के विशिष्ट को बाहर के सामान्य से मिला देता है—यह सामान्य ही जीवन-मूल्य है, जीवन-दृष्टि है जो कवि ने बाह्य जीवन-जगत से पायी है। कवि विशिष्ट को सामान्य बताने के लिए भाव-सम्पादन, भाव-संशोधन करता है—इससे भावपक्ष का समाजीकरण हो जाता है। कविता की यही दृष्टि हमें समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की ओर ले जाती है। हमारी भाव-सम्पदा, ज्ञान-सम्पदा और अनुभव सब इस व्यवस्था के अंग बन जाते हैं। इसी अर्थ में कला आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया है। इस तरह काव्य सामंजस्य और द्वंद्व को लेकर चलता है। नयी कविता में सामंजस्य से ज्यादा द्वंद्व का कारण है बौद्धिकता। यहाँ कविता रसाश्रित न होकर विचाराश्रित है। वह सामाजिक शोषण से मुक्ति का साधन है। उसमें लयात्मक छंदों के लिए स्थान नहीं है। नयी कविता जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि का ढेर नहीं, वह उसका विकास और परिष्कार है। अतः इस कविता की 'विद्रूपता' पर न ठहर कर इसके सौंदर्यबोध के रहस्य का उद्घाटन भी होना चाहिए।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, रीतिकाल-1 और 2, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. नेमिचंद्र जैन (सम्पा.) (1985), *मुक्तिबोध रचनावली*, राजकमल प्रकाशन, भाग-1 से 6, नयी दिल्ली.
2. नामवर सिंह (1968), *कविता के नये प्रतिमान*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. गजानन माधव मुक्तिबोध (1964), *नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध*, विश्व भारती प्रकाशन, नागपुर.

—कृष्णादत्त पालीवाल

गजानन माधव मुक्तिबोध-2

(चाँद का मुँह टेढ़ा है)

(Gajanan Madhav Muktibodh-2)

गजानन माधव मुक्तिबोध अर्जित जीवन-मूल्यों की चट्टान पर खड़े होकर सौंदर्यानुभव (एस्थेटिक एक्सपीरियेंस) को समझाना चाहते हैं। वे कहते हैं किसी भाव, वस्तु या दृश्य से जब मनुष्य एकाकार हो जाता है, तब सौंदर्यबोध होता है। कला का पहला क्षण है जीवन का तीव्र-उत्कट क्षण, दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते, दुःखते हुए जीवन मूल्यों से अलग हो जाना— एक ऐसी फ्रैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फ्रैंटेसी आँखों के सामने ही खड़ी हो। कला का तीसरा क्षण है फ्रैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया। एक प्रवाह में फ्रैंटेसी बहती है, उसमें संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना का जीवन-पुंज निहित रहता है। यहाँ वस्तुतत्त्व, कल्पनातत्त्व के साथ शैली-तत्त्व का महत्त्व भी कम नहीं है। कलाकार को शब्द-साधना से नये-नये अर्थ-स्वप्न मिलते हैं। कवि की फ्रैंटेसी भाषा को समृद्ध करती है, उसमें अर्थ-अनुपंगों का नयापन भर देती है। उनकी दृष्टि में *क्रामायनी* फ्रैंटेसी है। स्वयं मुक्तिबोध की ज्यादातर कविताएँ फ्रैंटेसी हैं; चाहे वे *भूरी-भूरी खाक धूल* काव्य-संग्रह में हों या *चाँद का मुँह टेढ़ा है* जैसे काव्य-संग्रह में।

मुक्तिबोध पर गद्य का दबाव इतना ज्यादा है कि उनकी यथार्थ को लेकर समझ बदली हुई है। *चाँद का मुँह टेढ़ा है* में हम हिंदी कविता की समूची परम्परा में चंद्रमा का विद्रूप पहली बार पाते हैं। इस काव्य-संग्रह के शीर्षक का एक सम्भावित अर्थ है कि पूँजीवादी व्यवस्था को फ़ालिज मार गया है, उसका मुँह टेढ़ा हो गया है और जल्दी ही वह मर जाएगी। मुक्तिबोध ने 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में कहा है, 'चाँद का है टेढ़ा मुँह / भयानक स्याह सन् तिरपन का चाँद वह'। नेहरू युग के स्वप्नों से सम्पूर्ण मोहभंग का यही समय है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका नयी कविता के 'कवियों के कवि' शमशेर बहादुर सिंह ने लिखी है। उनका कथन है : 'कहीं-कहीं ऊपर से लगने वाली गद्यात्मकता, जो बिलकुल निजी है— पाठक की स्वयं अपनी फली ठेठ है, ऐसी है कि परोक्ष वायवीयता से जिसे चिढ़।'

मुक्तिबोध में कविता-प्रकृति-प्रणय से नहीं बनती। वह बनती है भयानक और विद्रूप से। इस तरह वे 'भयानक बात' के कवि हैं— अपने समकालीनों में एकदम विशिष्ट-अलग। शमशेर ने मुक्तिबोध के काव्य का विवेचन व्यक्तिगत संदर्भों से शुरू किया और कहा कि 'गजानन माधव मुक्तिबोध मुझे खास तौर से शायद इसलिए ज्यादा अपील करते हैं कि

वे मुझसे इतने भिन्न हैं— एब्स्ट्रेक्ट नहीं ठोस।' मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' अंधकार को लेकर 'ठोस बिम्बों' का प्रयोग किया। इस कविता का मूल शीर्षक 'आशंका के द्वीप अँधेरे में' था जिसे कवि ने अपने फ्रैंटेसी-सिद्धांत में प्रस्तुत किया और कहा कि 'कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है।' फ्रैंटेसी में भाव-पक्ष प्रधान, विभाव पक्ष गौण होता है। 'अँधेरे में' में व्यंजनाप्रधान वक्तृत्व कला का कमाल है। कविता का काव्य-नायक (स्वयं मुक्तिबोध) हर जगह घूमता है। यह कविता अंधकार को लेकर निराला की लम्बी कविता 'राम की शक्तिपूजा' का ध्यान दिलाती है। लेकिन दोनों की ज्ञानपरक मिथिकल चेतना अलग है। 'अँधेरे में' कविता में 'एक अतिभव्य देह/ प्रचंड-पुरुष स्थान/ मुझे दीख पड़ता है।' अँधेरे-उजाले के द्वंद्व से एक भयानक बात मुँह से निकलती है। और 'हृदय में घोर-दुर्घटना, अचानक एक काला स्याह चेहरा प्रकट होता है, विकट हँसता हुआ। अध्यक्ष वह मेरी अँधेरी खाइयों में, घुसती है लाल-लाल मशाल अजीब सी, अंतरर्विवर के तम में, लाल-लाल कुहरा, कुहरे के सामने रक्तलोक-स्नातपुरुष एक रहस्य साक्षात्।' यहाँ अँधेरा लगातार रूप बदलता है।

मुक्तिबोध का संकलन *चाँद का मुँह टेढ़ा है* (1964) अपने महाकाव्यात्मक विस्तार में 'स्केल बुक' लगता है। बोलचाल की भाषा कवि के लोक-भाषा संस्कार का प्रमाण है— तद्भव शब्दों की बारात। कविता में मुक्तिबोध बोलना शुरू करते हैं तो बोलते ही चले जाते हैं। इससे कविता को फ़ायदा तथा नुकसान दोनों होते हैं। नुकसान यह कि उनकी कविताएँ अधूरी रह जाती हैं। केवल बड़ी बात यह कि संवेदना का ताप काव्यनुभूति में कम नहीं होने पाता— अद्भुत संयम! कविता की अंतर्योजना खण्डित नहीं होती। मुक्तिबोध अपनी कविता में कमियों के प्रति सजग हैं— लेकिन सम्प्रेषणीयता और रूप-विधान पर उनका ध्यान रहता है। उनके सारे प्रयोग विषयवस्तु को लेकर हुए हैं।

'अँधेरे में' कविता की अंतर्यात्रा एक अद्वितीय अनुभव है। कविता को पढ़ते हुए टी.एस. एलियट के 'वेस्ट लैण्ड' की स्मृति आती है। दोनों के मिथक-प्रतीक तुलनीय हैं। यहाँ जगत में 'परम अभिव्यक्ति' घूम रही है। कवि 'इसीलिए मैं हर गली में / और सड़क पर / झाँक-झाँक कर देखता हूँ हर एक चेहरा / प्रत्येक-गतिविधि / प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श / विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति खोजता हूँ— पहाड़-पठार-समुंदर / जहाँ मिल सके मुझे / मेरी वह खोयी हुई / परम अभिव्यक्ति अनिवार / आत्मसम्भवा'। 'अँधेरे में' कविता की ये अंतिम पंक्तियाँ मानव-अस्मिता की खोज का संकेत हैं। इस कविता में न कोई रहस्यवाद है, न अध्ययन, बल्कि अस्मिता की तलाश है। कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभक्त है। एक है काव्य-नायक और दूसरा 'वह'

उस का प्रतिरूप पिट्टू। इस विभाजन का आधार है 'आत्मनिर्वासन', जो आज की ज्वलंत समस्या है। 'वह' तिलस्मी गुफा गेह में निवास करता है— यह उसके 'आत्म-निर्वासन' का प्रतीक है। कविता का नाटकीय आरम्भ ध्यान खींचता है, 'जिंदगी के / कमरों में अँधेरे / लगाता है चक्कर/ कोई एक लगातार / किंतु वह व्यक्ति दिखाई नहीं देता / उसके चलने की आहट पर सुनाई देती है / अचानक दीवाल से पीव भरे पलस्तर गिरते हैं'। एक मनु की आकृति का चेहरा उभरता है। उसी समय काव्य-नायक प्रकट होकर उस रहस्यमय व्यक्ति का स्मरण करता है। यह वही व्यक्ति है जो तम-श्याम शीशे में कुहरीली श्वेत आकृति के रूप में प्रकट हुआ था। वह ही रक्तालोक-स्नात पुरुष है। वह 'हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव आत्मा की प्रतिमा'। वही 'हृदय को देता है बिजली के झटके।' यहाँ प्रेम और भय का द्वंद्व है। दरवाजा खोलने का संकल्प पर बाहर कोई नहीं। यह आत्म-निर्वासित-नायक को फिर दर्शन देता है। इस समय शहर में मार्शल-लाँ लगा हुआ है। रात के अँधेरे में वह 'आत्मोद्बोधमय गान' गाता है— जिसे सुनते ही काव्य-नायक अपना खोया हुआ व्यक्तित्व पाता है। वह रहस्यमय व्यक्ति जन-क्रांति के समय में भी एक बार मिलता है। माहौल में आग है : 'कहीं आग लग गयी / कहीं गोली चल गयी।'

पूरी कविता अस्मिता की खोज का अर्थ-संदर्भ लिए हुए है। कविता में तनाव है और त्रासदी की पीड़ा। स्वप्न-कथा चल पड़ी है तीन घटनाओं के साथ। किसी मृतदल की शोभायात्रा, सैनिक शासन और जन-क्रांति का बिगुल। यही इस कविता के विभावन-व्यापार का संदर्भ है। कविता के पूरे परिवेश में भय व्याप्त है। यह भय रात के सन्नाटे में अवचेतन से उभरता है। पूरी कविता स्वप्न-कथा या फ्रैंटेसी है— 'कामायनी' की तरह फ्रैंटेसी। 'अँधेरे में' कविता में तॉल्ल्स्टॉय, तिलक, गाँधी बुला लिये गये हैं। गाँधी काव्यनायक के कंधे पर हाथ रखकर गायब हो जाते हैं— एक शिशु को सौंप कर। वह शिशु देखते-देखते सूरजमुखी गुच्छ में बदल जाता है। कविता के यथार्थवादी-शिल्प में काव्यानुभूतियों की क्षमता है— जगह-जगह विरोधों के सामंजस्य की कला है। शमशेर के शब्दों में यह कविता हमारे समय-समाज-राजनीति के नाटक का दस्तावेज है। इस लम्बी कविता के कथ्य में नेहरू-युग का संकट जीवंत हो उठा है। मुक्तिबोध स्वयं कहते हैं, 'कविता में कहने की आदत नहीं / वर्तमान समाज चल नहीं सकता / पूँजी में रंगा हृदय बदल नहीं सकता।'

मुक्तिबोध की इस कविता के विराट-बिम्ब इसके काव्य की शक्ति बनकर आये हैं। यह रचना उनके कवि कर्म की चरम-परिणति है और नयी कविता की चरम उपलब्धि। इस कविता को राजनीति और समाजशास्त्र के औजारों से

समझने की ज़रूरत है, क्योंकि इसमें हमारे समय की धड़कन का इतिहास है।

नयी कवियों के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं मुक्तिबोध। उनका अध्ययन उन कवियों के साथ किया जा सकता है जो कविता को ज्ञानात्मक-संवेदना को संवेदनात्मक ज्ञान मानते हैं। स्वयं मुक्तिबोध रचना-कर्म को 'संवेदनात्मक ज्ञान' मानते थे। कवि अपनी जटिल यथार्थ-संवेदना को कटु सच्चाइयों और तनावों में से गुज़ारकर रचता है। उनके गद्य-पद्य में पिसते हुए सामान्य आदमी की पीड़ा का संसार है। 'पिस गया वह भीतरी/ और, बाहरी दो कठिन पाटों बीच/ ऐसी ट्रेजडी है नीच।' अज्ञेय इस तरह के तमाम तथ्यों पर ध्यान देने के कारण मुक्तिबोध को 'आत्मान्वेषण का कवि' मानते थे।

निश्चय ही मुक्तिबोध ऐसे रचनाकार हैं जिनकी प्रतिष्ठा नये प्रयोगों के कारण दिनों-दिन बढ़ेगी। शमशेर बहादुर सिंह ने कहा है, 'मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएँ लाँघ कर, प्रगतिवाद से मार्क्सिय दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार सँभाल और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि रूप से सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर निराला की सुधरी और खुली मानवतावादी परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया।' मुक्तिबोध की गद्य-कथा पर निर्मल वर्मा ने कहा है कि मुक्तिबोध के प्रश्न-उत्तर खिड़की की दूसरी तरफ़ से दूसरा प्रश्न बन कर अँधेरे में गूँजते हैं। मुक्तिबोध के समूचे गद्य में यह प्रश्न तीर की तरह बिंधा हुआ है कि घावों को दबा कर जिंदगी की सड़क पर जीवन बिताना कितना कठिन है। तार-तार दरिद्रताओं, यातनाओं, आत्मग्लानियों के बीच जीवन-बिताना और भी कठिन है। जीवन में एक दम तोड़ती बेचैनी है— निम्नमध्यवर्ग के अंतहीन घाव। वे किसी बाहरी यथार्थ पर कथा-साहित्य नहीं रचते, बल्कि वह यथार्थ उनकी आत्मा का निजी दस्तावेज होता है। आज हम उनकी डायरी, निबंध, कहानियों के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींचना चाहते। उनका गद्य सब परम्परागत विधाओं को भेदता हुआ एक पैना, पीड़ित सोच बन जाता है। वे अनुभव को व्यापक बनाकर मौन चिंतन करते हैं और भीतरी दुनिया के यथार्थ को रचते हैं। इसीलिए उनका सोच पाठक से संवाद करता हुआ सोच है— यह सोच ही उनके सृजन में घटना बनकर सामने आता है। छोटे-मामूली आदमी का जीवन बोझ कितना भयानक हो सकता है— इसे उन्होंने स्वयं जाना था, भोगा था। इसलिए उनका साहित्य कमाये हुए जीवन सत्त्यों का साक्ष्य कहा जा सकता है। अपनी विश्व-दृष्टि में वे अनुभवाभासों का गला घोट देते हैं। मुक्तिबोध ने एक साहित्यिक की डायरी में कहा है कि 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक जीवन में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'

निर्मल वर्मा के शब्दों में, 'मुक्तिबोध न केवल अपने आलोचक थे बल्कि अपने वर्ग के, भारतीय मध्यवर्ग के भी सबसे बड़े, निर्भीक और निर्मम आलोचक थे। उनकी दृष्टि में 'मध्यवर्ग का व्यक्ति सबसे कृत्रिम, पीड़ित, खोखली सर्वहारा जिंदगी जीता है।'

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, रीतिकाल-1 और 2, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. कृष्णदत्त पालीवाल (2002), *हिंदी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. निर्मल वर्मा (2006), *सर्जना पथ के सहयात्री*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1998), *आधुनिक कविता-यात्रा*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

—कृष्णदत्त पालीवाल

गठजोड़ राजनीति

(Politics of Alliance)

गठजोड़ राजनीति की उक्ति का इस्तेमाल सबसे पहले थॉमस पाइन ने 1782 में अमेरिकी राज्यों के आपसी संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिए किया था। लेकिन इसका मौजूदा संदर्भ द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के हालात से जुड़ा हुआ है। इसी दौरान अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वामपंथी दायरों में गठजोड़ राजनीति का इस्तेमाल धीरे-धीरे बढ़ा और सदी के आखिरी वर्षों तक इस रणनीति ने प्रमुख हैसियत प्राप्त कर ली। पार्टियों और विभिन्न हित-समूहों के बीच होने वाले गठजोड़ों ने दो तरह की भूमिकाएँ निभाईं। एक तरफ तो उन्होंने अस्मिता की राजनीति के कारण राजनीतिक शक्तियों के बीच हो रहे बिखराव को रोका, और दूसरी तरफ वामपंथी संकीर्णतावाद को हाशिये पर धकेल दिया। आज की दुनिया

का स्वरूप उत्तरोत्तर बहुसांस्कृतिक होता जा रहा है जहाँ आदर्शों और लक्ष्यों की भिन्नता है। किसी एक महा-सिद्धांत के विशाल दायरे में सभी तरह की शक्तियाँ अपनी-अपनी मंजिलों का समाहार करने के लिए तैयार नहीं हैं। सिद्धांतों और आदर्शों की विविधता के कारण गठजोड़ों की परिघटना वामपंथी दायरों से परे जाकर सार्वजनिक जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति बन गयी है। पिछले पचास साल में गठजोड़ राजनीति मुख्यतः दो रूपों में सामने आयी है : पहला, आंदोलनों के तहत होने वाली गठजोड़ राजनीति, जिसका सबसे ताजा और विश्वव्यापी उदाहरण विश्व सामाजिक मंच है। दूसरा, दलीय प्रणालियों के संदर्भ में होने वाली गठजोड़ राजनीति, जिसका सबसे दिलचस्प उदाहरण भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था है। इसे पार्टी-गठजोड़ मॉडल की संज्ञा भी दी जा सकती है।

कुछ सिद्धांतवेत्ताओं की मान्यता है कि किसी सामाजिक या राजनीतिक आंदोलन के विकास के लिए गठजोड़ राजनीति एक महत्वपूर्ण चरण है, क्योंकि इसके जरिये विभिन्न विचारों और सिद्धांतों से जुड़ी शक्तियाँ सामूहिक कार्रवाई के दौर से गुजरती हैं। इसी प्रक्रिया में उस ठोस आधार का विकास होता है जिसके इर्द-गिर्द बने उसूल से सभी सहभागी सहमत हो जाते हैं। हर किसी को यकीन हो जाता है कि शक्तियों के इस विन्यास में दूसरे सहभागी उनके दृष्टिकोण का सम्मान करेंगे और कोई किसी के ऊपर हावी होने की कोशिश नहीं करेगा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की राजनीति में बड़े-बड़े सामाजिक आंदोलनों के परिदृश्य पर एक सरसरी निगाह डालते ही साफ़ हो जाता है कि हर सामाजिक आंदोलन में एक से अधिक राजनीतिक दल और हित-समूह कार्यरत थे। उनके बीच आंदोलन के कार्यक्रम और नेतृत्व पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए होड़ थी। होता यह था कि अपना-अपना सामाजिक आधार बढ़ाने और अपने पक्ष में प्रभावी गोलबंदी करने के लिए विभिन्न राजनीतिक शक्तियाँ सामाजिक आंदोलनों की तरफ आकर्षित होती थीं। लेकिन जैसे-जैसे अस्मिता की राजनीति का उभार हुआ, यह परिस्थिति बदलने लगी। सामाजिक परिवर्तन के मकसद से वर्ग और समुदाय से इतर प्रभाव डालने वाले व्यापक कार्यक्रमों की जगह किसी एक अस्मिता की दावेदारी करने वाले कार्यक्रमों का चलन होता चला गया। इस रुझान के कारण बड़ी-बड़ी पार्टियों के सामाजिक आधार में कटौती होने लगी। नतीजा यह हुआ कि विभिन्न हित-समूहों की नुमाइंदगी करने वाली राजनीतिक ताकतों के बीच गठजोड़ बनने लगे। अपनी-अपनी कम या ज्यादा ताकत के मुताबिक विभिन्न ताकतें गठजोड़ों में भागीदारी करतीं, और एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम के इर्द-गिर्द गठजोड़ों की गतिविधियाँ नियोजित होने लगीं।

सत्तर के दशक में पर्यावरण आंदोलन ने गठजोड़ राजनीति का मुहावरा सफलतापूर्वक विकसित किया था। उसका नारा था 'भूमण्डलीय पैमाने पर सोचो, स्थानीय स्तर पर कार्रवाई करो'। इसका परिणाम ग्रीन मूवमेंट में निकला। इसी तर्ज पर पश्चिम में नेबरहुड और 'सेव अवर सबअर्ब' जैसे आंदोलन सामने आये। स्थानीय स्तर पर सक्रियता को रेखांकित करने वाले इन आंदोलनों ने अस्मिताओं के बजाय सामुदायिकता के विकास पर जोर दिया। इस रुझान का असर नब्बे के दशक में चली प्रतिरोध आधारित सामुदायिक कार्रवाई की मुहिमों पर देखा जा सकता है।

भूमण्डलीकरण की परिघटना के उभार ने स्थानीयता के साथ जुड़ी राजनीति के लिए नयी चुनौती पेश की। भूमण्डलीकरण का विरोध करने वालों की कमी नहीं थी, पर उनके विरोध के कारण अलग-अलग थे। किसान, टेक्सटाइल मजदूर और झुग्गी-वासी आंदोलित होने के लिए तैयार थे, पर अलग-अलग जरूरियों से। इस नयी माँग को पूरा करने के लिए संगठनात्मक नवाचार की आवश्यकता थी जिसे विश्व सामाजिक मंच (वर्ल्ड सोशल फ़ोरम) ने पूरा किया। आंदोलनकारी गठजोड़ राजनीति के अनूठे उदाहरण के रूप में इस मंच का दावा है कि वह नयी विश्व-व्यवस्था को चुनौती देने वाली सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सुगम करने का काम कर रहा है। वह अपने-आप में कोई विचारधारा, आंदोलन, पार्टी, मोर्चा या संघ न हो कर दुनिया के पैमाने पर काम कर रही चौपाल की तरह का एक क्षैतिज स्पेस है जिसका मकसद नागर समाज के संघर्षशील और जनोन्मुख संगठनों की नेटवर्किंग को बढ़ावा देना है।

विश्व सामाजिक मंच का पहला आयोजन सन् 2001 में पोर्टो अलेगरो (ब्राज़ील) में हुआ था। इसकी विशेषता यह है कि जिस तारीख को दावोस में नव-उदारतावादी आर्थिक निज़ाम की नुमाइंदगी करने वाला वर्ल्ड इकॉनॉमिक फ़ोरम आयोजित होता है, उसी दिन 'प्रति-सम्प्रेषण' की कार्रवाई के तौर पर वर्ल्ड सोशल फ़ोरम किया जाता है। विश्व सामाजिक मंच का नारा है : 'दूसरी दुनिया मुमकिन है'। इस यूटोपियायी ख़याल को धरती पर उतारने के लिए इस फ़ोरम ने ख़ुद को एक मध्यवर्ती भूमिका में रखा है; अर्थात्-जिसे दूसरी दुनिया को बनाने की चर्चा की जा रही है, उसकी रचना फ़ोरम के नेतृत्व में नहीं होगी, बल्कि उसकी बागडोर नागर समाज के हाथों में होगी। दरअसल यह फ़ोरम नागर समाज को एक नये राजनीतिक अभिनेता के तौर पर देखता है जिसके जरिये समाज ख़ुद को बदल सकता है। इसीलिए फ़ोरम सारी दुनिया में फैले नागर समाज के उन संगठनों के आपस में मिलने, नेटवर्किंग करने और एक-दूसरे से सीखने का मुक्त स्पेस मुहैया कराता है जो तरह-तरह की राजनीतिक कार्रवाइयों में संलग्न हैं। फ़ोरम चाहता है कि उसके आयोजनों के जरिये सिविल सोसाइटी की संस्थाएँ दुनिया के प्रत्येक देश में उभरें और मज़बूत हों।

बहुदलीय प्रणालियों वाले लोकतांत्रिक देशों में तो देर-सबेर गठजोड़ राजनीति उभरना स्वाभाविक ही था। लेकिन जिन देशों में राजनीति मुख्यतः दो दलों की आपसी होड़ के जरिये हो रही थी, वहाँ भी बड़ी-बड़ी पार्टियों के भीतर विभिन्न समुदायों, हितों, राजनीतिक प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के गठजोड़ की शिनाख़्त की जाने लगी। धारणा यह बनी कि लोकतंत्र में राजनीति गठजोड़-रचना के आधार पर ही चलती है। दलीय प्रणाली को उसी के मुताबिक बनना-बिगड़ना पड़ता है।

भारतीय लोकतंत्र में पार्टी-गठबंधन के रूप में उभरी गठजोड़ राजनीति की शुरुआत साठ के दशक से मानी जाती है। गठजोड़ की प्रवृत्तियाँ इससे पहले भी मौजूद थीं, पर उनकी अभिव्यक्ति आज़ादी के पहले से ही देश की सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस के भीतर होती थी। कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, हिंदू धड़े की नुमाइंदगी करने वाले और दूसरे अनुदार या उदारपंथी कांग्रेस में आते-जाते रहते थे। आज़ादी के ठीक पहले शुरू हुई राजनीतिक प्रक्रिया में ये तत्त्व क्रमशः बाहर निकले और अलग संगठन बना कर काम करने लगे। 1967 के चुनाव में विभिन्न कारणों से आठ राज्यों में कांग्रेस का पराभव हुआ जहाँ विपक्षी दलों और कांग्रेस से निकले हुए तत्त्वों के आपसी सहयोग से गठजोड़ सरकारें बनीं। केरल एक ऐसा प्रदेश था जहाँ गठजोड़ राजनीति का यह मॉडल स्थायी रूप ग्रहण करता चला गया। लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर उसे नब्बे के दशक का इंतज़ार करना पड़ा। आज भारतीय राजनीति में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर कई पार्टी-गठजोड़ सक्रिय हैं। संसदीय राजनीति उन्हीं की गतिविधियों के माध्यम से परिभाषित होती है।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', पार्टी गठजोड़ की राजनीति, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, विश्व सामाजिक मंच, वाम मोर्चा, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन।

संदर्भ

1. ऐंडी ब्लंडेन (2003), 'एथिकल पॉलिटिक्स ऐंड एलायंस पॉलिटिक्स', *एरीना मैगज़ीन*, अंक 68.3
2. फ्रांसिस्को 'चीको' व्हिटेकर फ़ेरेरा (2009), *वर्ल्ड सोशल फ़ोरम : दुनिया की चौपाल (हस्तक्षेप की नयी पगडंडियाँ)*, अनु. अभय कुमार दुबे, *साउथ एशियन डॉयलॉग ऑन इकॉलॉजिकल डेमोक्रेसी, नयी दिल्ली*.
3. बलवीर अरोड़ा (2002), 'द पॉलिटिकल पार्टीज़ ऐंड द पार्टी सिस्टम : द इमरजेंस ऑफ़ न्यू कोआलिशन', जोया हसन (सम्पा.), *पार्टीज़ ऐंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ओयूपी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

गवर्नेस

(Governance)

बीसवीं सदी की आखिरी दहाई में अकादमिक इदारों में गवर्नेस की अवधारणा का चलन तेजी से बढ़ा है। यँ तो इसे शासन या सुशासन भी कहा जा सकता है, पर इन पदों से सरकार और सरकारियत या शासन और शासकीयता का भी मतलब निकलता है इसलिए यहाँ गवर्नेस शब्द का ही इस्तेमाल किया जाएगा। राजनीति और नीति-नियामक तंत्रों पर छा जाने वाली गवर्नेस की अवधारणा आज दुनिया के हर राज्य के लिए अहम बन गयी है। इस शब्द का इतिहास भी दिलचस्प है। हम जानते हैं कि शासन तथा सरकार को समानार्थी माना जाता था। पचास के दशक तक शब्दकोशों ने शासन शब्द को लुप्तप्राय अथवा अप्रचलित घोषित कर दिया था। लेकिन नब्बे की दहाई के अंत में विश्व बैंक ने अपनी एक रिपोर्ट में इस शब्द का प्रयोग करते हुए कहा कि अफ्रीकी देश गवर्नेस की समस्या से जूझ रहे हैं। इसके बाद से विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा ऑर्गनाइजेशन फ़ॉर इकॉनॉमिक कोऑपरेशन ऐंड डिवेलपमेंट (ओईसीडी) ने इस शब्द का धुआँधार इस्तेमाल किया है। इन संगठनों के स्वर में स्वर मिलाते हुए अकादमिक हल्कों ने इसे एक नयी विचारधारात्मक अवधारणा में तब्दील कर दिया है।

इस अवधारणा के हिमायतियों का मानना है कि भूमण्डलीकरण की वजह से नब्बे की दहाई के बाद से एक नये तरह की (नवउदारतावादी) विश्व-व्यवस्था उभरी है जिसका तकाज़ा है कि परम्परागत राज्य एवं सरकार-प्रणाली की जगह एक नये तरह की शासन-व्यवस्था की स्थापना की जाए क्योंकि पहले से चले आ रहे राज्य तथा सरकारों की नवउदारतावादी आर्थिक विश्व-व्यवस्था के साथ संगति नहीं बैठती। नयी वैश्विक आर्थिक संरचना के लिए नये तरह की राजनीतिक संरचना की दरकार है जहाँ आर्थिक गतिविधियों में राज्य का हस्तक्षेप कम हो, सरकार बाज़ार के खिलाड़ियों की आपसी प्रतिस्पर्धा और आर्थिक गतिविधियों का संचालन करे, राज्य की लोकोपकारी जिम्मेदारियों को समाप्त कर दिया जाए, नौकरशाही को निपुण बनाया जाए तथा सरकार कम खर्च में अधिक काम करे। इस अवधारणा के हिमायतियों का मानना है कि यह सरकार की अवधारणा को विस्थापित कर देगी तथा राज्य को कमज़ोर अथवा खोखला कर देगी। लेकिन, इस अवधारणा से नाइतेफ़ाकी रखने वालों का कहना है कि गवर्नेस कोई नयी अवधारणा नहीं है तथा यह राज्य को कमज़ोर अथवा खोखला नहीं कर सकती। राज्य नवोदित आर्थिक-संरचना के अनुसार अपनी पुनर्संरचना कर रहा है। राज्य की अहमियत घटी नहीं है बल्कि मुसलसल बनी हुई है।

गवर्नेस भले ही कोई नवीन अवधारणा न हो, लेकिन वर्तमान संदर्भों में जो मानी इसे अता कर दिये गये हैं उसने ज़रूर इसे एक नयी विचारात्मक अवधारणा बना दिया है। दरअसल गवर्नेस तथा नवउदारतावादी भूमण्डलीकरण एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। सोवियत संघ के ढह जाने के बाद पूँजी तथा इसकी मनपसंद राजनीतिक व्यवस्था उदारतावादी लोकतंत्र के रास्ते की सबसे बड़ी अड़चन खत्म हो चुकी है तथा उसके लिए पूरी दुनिया में अपना प्रसार करने का रास्ता खुल गया है। भूमण्डलीकरण के अभियान ने बाज़ार को पहले से अधिक व्यापक (सर्वव्यापी) तथा जटिल बना दिया। एक वैश्विक अर्थव्यवस्था का सृजन शुरू हुआ। इस व्यवस्था की अपनी जटिलताएँ हैं जिनका तकाज़ा है कि पूँजी, बाज़ार, श्रम अधिग्रहण तथा पूँजी-संचयन के रास्ते में आने वाली समस्याओं से निपटने के लिए एक नये तरह की राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया जाए। गवर्नेस की अवधारणा इसी नवउदारतावादी वैश्विक अर्थ व्यवस्था को न्यायसंगत ठहराने तथा इसके प्रसार को सुनिश्चित करने के मकसद से गढ़ा गया विचारधारात्मक औज़ार है।

बढ़ती हुई आर्थिक जटिलता तथा परिवर्तन वे तर्क हैं जिनका हवाला देकर गवर्नेस की अवधारणा अपना औचित्य सिद्ध करने की कोशिश करती है। इस अवधारणा का कहना है कि भूमण्डलीकरण ने पूरी दुनिया को एक तरह के जटिल आर्थिक संजाल में गुम्फित कर दिया है। तकनीक तथा सूचना के द्रुत प्रसार की वजह से तकनीकशाह पहले से अधिक मज़बूत हो गये हैं। सरकारें इन तकनीकों के इस्तेमाल में पिछड़ गयी हैं। इन जटिलताओं से निपटने के लिए गवर्नेस की छोटी तथा कुशल इकाइयों की ज़रूरत है। ये इकाइयाँ तकनीकी रूप से भी कुशल होनी चाहिए। सिर्फ़ आर्थिक संरचना ही क्लिष्ट नहीं हुई है बल्कि राजनीतिक संरचना भी पहले जितनी सरल नहीं रही है। अब राज्य को अनेक स्तरों पर अन्य राज्यों तथा बहुराष्ट्रीय संगठनों के साथ सामंजस्य बिठा कर अपनी वरीयताएँ निर्धारित करनी होती हैं, नीतियाँ बनानी होती हैं तथा उनका कार्यान्वयन करवाना होता है। इस तरह राज्य की गतिविधियों में पर-राष्ट्रीय हितों की राय की अहमियत बढ़ जाती है, और यह राज्य के कमज़ोर होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

गवर्नेस की अवधारणा कहती है कि राज्य की भूमिका को सीमित तथा उसके आकार को छोटा कर दिया जाना चाहिए ताकि इसकी कार्यक्षमता बढ़ सके तथा इसकी संरचना सरल एवं पारदर्शी बनायी जा सके। आर्थिक-संरचना के नियमन तथा नीति-निर्धारण के क्षेत्र में परस्पर प्रतिस्पर्धी निजी खिलाड़ियों की भूमिका बढ़नी चाहिए। यह अवधारणा परम्परागत राज्य तथा सरकार की कार्यप्रणाली की आलोचक है। इसका तकाज़ा है कि नीति-निर्धारण की प्रक्रिया को सरल

एवं सुगम बनाया जाए, पूँजी संचयन को बढ़ावा देने वाली तथा पूँजी की सुरक्षा की गारंटी तय करने वाली नीतियाँ तथा संरचनाएँ बनायी जाएँ ताकि निवेशक बिना किसी डर के निवेश कर सकें तथा विकास में योगदान कर सकें। इसका सबसे बड़ा लक्ष्य है वैश्विक स्तर पर मुक्त-बाज़ार अर्थव्यवस्था का निर्माण करना। इसका कहना है कि इस तरह की अर्थव्यवस्था में बहुमत जिन उत्पादों तथा सेवाओं को पसंद करेगा वही उत्पाद तथा सेवाएँ बाज़ार में टिक पाने में सफल रहेंगी, इस तरह उत्पादों तथा सेवाओं की गुणवत्ता सुधरेगी तथा उपभोक्ता अपने चयन के अधिकार का सही तरह से इस्तेमाल कर पायेंगे।

विश्व बैंक, मुद्रा कोष तथा ओईसीडी ने गवर्नेस की अवधारणा को पूरी दुनिया में लागू करवाने को अपना मुख्य मिशन बना लिया है। विश्व बैंक का इसरार है कि जो मुलक गवर्नेस की अवधारणा को लागू नहीं करेंगे उन्हें यह इमदाद नहीं देगा, और अगर दी जा रही है तो रोक ली जाएगी। कोष ने एक क्रदम आगे जाते हुए गवर्नेस संबंधी नीतियों तथा संरचनाओं का खाका भी तैयार कर दिया है। आर्थिक सहायता के आकांक्षी मुलकों के लिए इस खाके को लागू करना लाज़मी है। इससे राज्य के ऊपर गवर्नेस की अवधारणा का दबाव बढ़ा है। अमेरिका में क्लिंटन प्रशासन तथा ब्रिटेन में न्यू लेबर सरकार ने गवर्नेस की अवधारणा का मतलब सरकार की लागत घटाकर कुशलता बढ़ाना तय करके उसे सख्ती से लागू किया।

गवर्नेस की अवधारणा राज्य का खात्मा नहीं चाहती है। यह चाहती है कि राज्य एक निश्चित सीमा में रहते हुए बाज़ार की गतिविधियों को नियमित-नियंत्रित करने वाले नियम तथा संरचनाएँ बनाये ताकि निहित स्वार्थ अपनी कमनज़री की वजह से बाज़ार को नुकसान न पहुँचा सकें। साथ ही, राज्य बाज़ार की गलतियों को दुरुस्त करने का भी काम करे, इसमें प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसे पूँजीधारकों को माली तथा अन्य तरह की मदद मुहैया करवाना भी शामिल है। गवर्नेस की अवधारणा चाहती है कि अर्थव्यवस्था तथा शासन-तंत्र का बिलगाव कर दिया जाए और अर्थव्यवस्था का क्षेत्र निजी क्षेत्र के हाथ में छोड़ दिया जाए। यहाँ से इस अवधारणा के अंतर्द्वंद्व सामने आने शुरू होते हैं।

पूँजी एक जगह केंद्रित नहीं है, इसमें भी अलग-अलग धड़े हैं जो एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धित रहते हैं। इस प्रतिस्पर्धा के बुरे परिणाम भी सामने आते हैं जो बाज़ार, अर्थव्यवस्था तथा स्वयं पूँजी के लिए नुकसानदायक होते हैं। ऐसी हालत में राज्य को हस्तक्षेप करना होता है, क्योंकि राज्य के पास ही नियमन, नियंत्रण तथा शोषण (दमन) की वैधानिक शक्ति है। और फिर, पूँजीवाद के अंतर्गत राज्य का काम ही है दीर्घकालीन पूँजी-संचयन सुनिश्चित करना तथा पूँजी को बाधाओं तथा खतरों से बचाना।

गवर्नेस की अवधारणा के पक्ष तथा विपक्ष में दो तरह की राय बन जाती है। एक पक्ष है समाजकेंद्री अवधारणा। इस पक्ष का मानना है कि गवर्नेस ने राज्य को कमज़ोर तथा खोखला कर दिया है। दूसरा पक्ष है राज्यकेंद्री अवधारणा। इस पक्ष का मानना है कि गवर्नेस की अवधारणा नव-उदारतावादी दौर के वित्तीय पूँजीवाद की ईजाद है। और चूँकि पूँजीवाद की अंतर्निहित प्रकृति ऐसी है कि इसके अंतर्विरोध बार-बार सतह पर आते रहते हैं, साथ ही इसे पूँजीहीनों से खतरा भी बना रहता है, ऐसे में इसे राज्य जैसी विधान-सम्मत, सर्व-स्वीकृत तथा कल्याण के साथ-साथ दमन की क्षमता (एवं अधिकार) रखने वाली संस्था की लगातार ज़रूरत बनी रहती है। इसलिए ख़ुद गवर्नेस की अवधारणा राज्य पर निर्भर है, यह इसे कमज़ोर अथवा खोखला नहीं कर रही है।

राज्यकेंद्री पक्ष का मानना है कि सुस्थिर राज्य अथवा शासन-पद्धति नाम की कोई शै नहीं होती है। आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ राज्य की संरचना में भी निरंतर परिवर्तन चलता रहता है। आजकल राज्य की कार्य-पद्धति में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे राज्य की कमज़ोरी अथवा खोखलेपन का प्रमाण नहीं हैं बल्कि राज्य वैश्वीकृत आर्थिक-व्यवस्था के अनुसार ख़ुद को पुनर्व्यवस्थित कर रहा है। आज भी राज्य के पास सबसे अधिक आर्थिक, सूचनात्मक तथा दमनात्मक संसाधन मौजूद हैं। यह सच है कि राज्य की सत्ता का प्रसरण केंद्र से क्षेत्रों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों की ओर हो रहा है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य अपनी सम्प्रभुता खो चुका है। राज्य जैसी वैधता निजी क्षेत्र के पास नहीं है, राज्य ही निजी क्षेत्र को वैधता प्रदान करता है।

लेकिन सभी राज्यों को एक समान नहीं माना जा सकता। विकसित पाश्चात्य राज्य गवर्नेस की अवधारणा को अपनाने के बाद और अधिक मज़बूत तथा परिणामतः और अधिक दमनात्मक हो गये हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के राज्य विश्व बैंक, कोष तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के बरक्स पहले से अधिक कमज़ोर हो गये हैं, गोकि इनकी भी दमनात्मक क्षमता बढ़ी है। पूँजी बिना किसी गवर्नेस-तंत्र के नहीं रह सकती। अपने अंतर्निहित अंतर्विरोधों से निपटने के लिए तथा पूँजीहीन तबकों के दमन के लिए इसे एक तरह के राजनीतिक तंत्र की ज़रूरत बनी रहेगी। वर्तमान दौर में उत्पादक क्षेत्र से राज्य ने हाथ पीछे खींच लिए हैं तथा इसे निजी क्षेत्र के सुपुर्द कर दिया है, साथ ही निजी क्षेत्र के दबाव में इसने कल्याणकारी गतिविधियों को भी कम कर दिया है। राज्य इस अर्थ में कमज़ोर हुआ है कि आर्थिक गतिविधियों में इसकी हिस्सेदारी सिकुड़ गयी है। पर, राज्य इस अर्थ में मज़बूत हुआ है कि इसकी दमनकारी क्षमता बढ़ गयी है।

देखें : भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और राज्य, सम्प्रभुता, मिशेल पॉल फ्रूको-1 और 2, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ।

संदर्भ

1. जे. कुईमान (सम्पा.) (1993), *मॉडर्न गवर्नेस : न्यू गवर्नमेंट-सोसाइटी इंटरएक्शंस*, सेज, लंदन.
2. जे. पीयर और बी.जी. पीटर्स (2000), *गवर्नेस, पॉलिटिक्स एंड द स्टेट*, मैकमिलन, लंदन.
3. ए.जे. टेलर, (2000), 'होलोइंग आउट ऑर फ्रिलिंग इन? टास्क फ़ोर्सेज एंड द मैनेजमेंट ऑफ़ क्रॉस-कटिंग इशूज़ इन ब्रिटिश गवर्नमेंट', *ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ पॉलिटिक्स एंड इंटरनैशनल रिलेशंस*, खण्ड 2, अंक 1.
4. बी. जेसप (1997), 'द गवर्नेस ऑफ़ कॉम्प्लेक्सिटी एंड द कॉम्प्लेक्सिटी ऑफ़ गवर्नेस : सम प्रिलिमिनरी रिमाक्स ऑन सम पॉबलमस एंड लिमिट्स ऑफ़ इकॉनॉमिक गाइडेंस', ए. अमीन तथा जे. हौस्नेर (सम्पा.), *बियाँड मार्केट एंड हायराकी : इंटरैक्टिव गवर्नेस एंड सोशल कोम्प्लेक्सिटी*, एडवर्ड एल्गर, आल्डरशॉट.

— सुनील कुमार

गाड़गे बाबा (Gaadge Baba)

सामाजिक क्रांति में विश्वास करने वाले गाड़गे बाबा (1876-1956) का नाम महाराष्ट्र के उन समाज-सुधारकों में लिया जाता है जिन्होंने पुस्तकीय ज्ञान से नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप में हाशिये के लोगों के बीच चेतना जगाने का कार्य किया। इसीलिए उन्हें समाज ने लोक-शिक्षक की उपाधि दी। डॉ. आम्बेडकर के साथ सक्रिय रहे संत गाड़गे पूर्णतः अहिंसावादी और वे पशु-बलि के खिलाफ़ थे। पशु-बलि के पीछे अनेक अंधविश्वासी धारणाएँ समाज में प्रचलित थीं। गाड़गे गाँव-गाँव जाते और लोगों के मन से इस तरह की भ्रांति निकालने का प्रयास करते। एक दिन एक गाँव में पहुँच कर उन्होंने लोगों को समझाया कि पशु-बलि से अगर भगवान मिलते हैं तो सबसे पहले आप मेरी हत्या करो। मुझे काट कर रख दो। ऐसा कहते हुए उन्होंने अपनी गर्दन लोगों के सामने झुका दी। इस घटना ने उक्त गाँव में तत्काल अपना प्रभाव दिखाया और परिवर्तन की धारा वहीं से आरम्भ हुई। गाड़गे वेशभूषा के नाम पर फटे-पुराने कपड़े पहनते थे। सिर पर टोपी होती और एक हाथ में झाड़ू तथा दूसरे हाथ में मिट्टी का गडुआ रहता था। वे जब चलते तो रास्ता साफ़ करते हुए जाते थे। चूँकि उनके पास हमेशा मिट्टी का गडुआ रहता था

इसलिए उनका नाम गाड़गे महाराज पड़ गया। गाड़गे स्वयं बहुत कम पढ़े-लिखे थे, लेकिन दलित समाज में शिक्षा की चेतना जगाने और शिक्षा संस्थाओं को खड़ा करने में उन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया। समाज के दबे-कुचले वर्ग में बिना राजनीति का सहारा लिए सुधार की अलख जगाने वाली उन हस्तियों की परम्परा में गाड़गे बाबा का नाम शीर्ष पर है जो सामाजिक इतिहास की मुख्य धारा से उपेक्षित पड़ी हुई हैं।

लोक शिक्षक गाड़गे बाबा का जन्म 23 जनवरी, 1876 को महाराष्ट्र के अमरावती जिले में शेण गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम झिंगराजी तथा माता का नाम सखुबाई था जिस परिवार में उनका जन्म हुआ वह गरीब होने के साथ-साथ अत्यंत ही दीन-हीन स्थिति में था। उनके पिता कपड़े धोने का कार्य करते थे। बचपन में ही उनका जीवन संघर्षमय परिस्थितियों से घिर गया। छुटपन में ही पिता का देहांत हो गया। परिणामस्वरूप माँ के साथ वे मामा के यहाँ चले गये। मामा के परिवार के साथ रहते हुए वे जानवरों की देखभाल करते थे। उसी समय सूखा पड़ा। खेती नहीं हो सकी। मामा को साहूकार से ऋज्र लेना पड़ा। साहूकार ने कपटनीति से मामा की ज़मीन अपने नाम करा ली। इस पीड़ा में मामा की मृत्यु हो गयी। सारी ज़िम्मेदारी उन पर ही आ गयी। इस तरह की जीवन-स्थितियों के कारण अकेलेपन का अहसास होने शुरू में ही होने लगा था। सोलह वर्ष की आयु में उनका विवाह कुन्नाबाई नाम की लड़की से हो गया। बाद में वे एक पुत्री के पिता भी बने। पर सांसारिक जीवन में उनका मन लग नहीं सका। उनका मन विरक्त और मुक्ति के भावों से भरा हुआ था।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के संधिकाल पर समाज-सुधार में प्रवृत्त हुए गाड़गे बाबा ने 29 साल की उम्र में घर छोड़ दिया था। समाज को और भी करीब से देखने की उनकी इच्छा थी। गृह त्याग के बाद दिल को झकझोर देने वाले अनेक दृश्य उनकी आँखों के सामने से गुजरे। तत्कालीन कर्मकाण्डी समाज में दलितों और शोषितों का जीवन बहुत ही कष्टमय था। वे कर्तव्यों के बोझ से तो दबे थे, पर उनके पास अधिकार नाममात्र को भी न थे। उनका जन्म दूसरों की सेवा करने के लिए ही हुआ था। महिलाओं की स्थिति तो और भी खराब थी। लोगों के साथ जाति परछाई की तरह चिपकी थी। जहाँ भी आदमी जाता, जाति उसके साथ अवश्य चलती।

एक बार एक गाँव में सामूहिक भोज का आयोजन हुआ। भोजन के लिए सवर्णों के साथ-साथ महार जाति के कुछ लोग भी बैठ गये। यह देखकर सवर्णों ने चिल्लाना आरम्भ कर दिया। उस पंगत में गाड़गे भी बैठे थे। यह देख कर उन्हें बहुत बुरा लगा। उन्होंने साहस कर कहा कि यदि सवर्ण जाति के लोग दलितों के साथ खाना नहीं खाते हैं तो



गाड़गे बाबा (1876-1956)

वे भी बिना भोजन किये वहाँ से उठ जाएँगे। सवर्ण किसी भी तरह से एक पंगत में बैठकर खाना खाने को तैयार नहीं हुए। परिणामस्वरूप गाड़गे वहाँ से बिना भोजन किये ही नाराज होकर चले गये।

गाड़गे का कहना था कि जातियाँ केवल दो हैं— एक स्त्री और दूसरी पुरुष। दलितों से वर्ण बिल्कुल भी अलग नहीं हैं। जो अपने को श्रेष्ठ बतलाते हैं, वे मानवीय पक्ष को झुठला कर मानव जाति का अपमान करते हैं। उनका संदेश था— सभी मानव एक समान हैं। इस तरह मानवीय संदेश को लेकर उन्होंने अपनी जीवन यात्रा शुरू की।

गाड़गे का संदेश सरल-सहज था। वे कहा करते थे, 'भगवान न तो तीर्थ में है और न ही मूर्ति में। वह तो दरिद्र नारायण के रूप में स्वयं तुम्हारे सामने खड़ा है। उसकी प्रेम से सेवा करो। यही आज का सच्चा धर्म है, यही सच्ची भक्ति और भगवान की पूजा है।' उन्होंने लोगों को समझाया कि जो कुछ भी मानव करता है उसका कारण वह स्वयं है। इसमें ईश्वर की कोई भूमिका नहीं होती। संत गाड़गे ऐसे समाज की स्थापना के पक्षधर थे, जिसमें सभी वर्गों के लोग सम्मान-पूर्वक जीवन जी सकें। अंधविश्वासों के उन्मूलन के लिए वे लोगों से कहते थे कि, 'संतान प्राप्ति और बीमारी से ठीक होने के लिए मंत्र माँगने मंदिरों और देवघरों का चक्कर लगाने, झाड़ू-फूंक लगाने से कोई लाभ नहीं होने वाला है। बल्कि संतानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है कि वर-वधू की जोड़ी अच्छी (बीमारी रहित) ढूँढ़िये तथा बीमारी से छुटकारा

पाने के लिए दवा द्वारा इलाज कराइए। तभी इन समस्याओं से निदान पाया जा सकता है।' उन्होंने तीर्थ यात्रा का खण्डन व मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया। वे कहते कि जो मूर्ति स्वयं स्नान नहीं कर पाती, कपड़ा नहीं पहन सकती, भोजन नहीं कर पाती, अँधेरे में जिसका दर्शन कराने के लिए दीपक की जरूरत पड़ती है, उसे भगवान नहीं माना जा सकता है।

समाज सुधार में सबसे ज्यादा महत्त्व उन्होंने छुआछूत मिटाने के अभियान को दिया। वे जिस भी गाँव में जाते, वहाँ गाँव के सभी लोगों को अपने-अपने घरों से रोटियाँ लाने के लिए कहते और फिर सभी को एक साथ बैठाकर खाना खिलाते थे। उनके इस नायाब तरीके से लोग प्रभावित हुए बिना न रह सके।

गाड़गे बाबा ने शिक्षा के क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य किया। दलित समाज में जो संस्थाएँ पहले से कार्यरत थीं, उन्हें आर्थिक मदद दिलाने में उन्होंने पहल की। डॉ. आम्बेडकर द्वारा स्थापित पीपुल्स एजुकेशन सोसाइटी को भी गाड़गे बाबा ने आर्थिक सहयोग दिया था। उनका कहना था कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार से मानव जीवन में सभी तरह के अंधकार को दूर किया जा सकता है। स्वयं ज्यादा पढ़े-लिखे न थे, लेकिन शिक्षा के प्रति उनकी रूचि शिक्षित लोगों से भी कहीं अधिक थी। वे शिक्षा के मर्म को अच्छी तरह समझते थे। वे कहते थे कि 'अभी से ही बच्चों को पढ़ाओ। कहते हो, पैसा नहीं है तो हाथ की थाली बेच दो, हाथ पर रोटी रख कर खाओ। पत्नी के लिए कम क्रीमत की साड़ी खरीदो। रिश्तेदारों की खातिर करने में पैसा मत बहाओ।' शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना की जिसमें दस आश्रम स्कूल आदिवासियों के लिए और आठ स्कूल घुमंतू जातियों के लिए थे। गाड़गे ने 15 छात्रावास (11 लड़के और चार लड़कियों के लिए), एक कन्या पाठशाला, एक महिला आश्रम, दो संस्कार केंद्र, एक उच्चतर विद्यालय और एक महाविद्यालय खोले। उनके इन प्रयासों के फलस्वरूप दलित समाज शिक्षा के प्रति कुछ हद तक जागरूक हुआ। उनका कहना था कि कर्ज लेकर कोई धार्मिक कार्य न करें। उन्होंने यहाँ तक कहा कि यदि घर के किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो कर्ज लेकर लाश को गंगा में प्रवाहित करने का कोई औचित्य नहीं है। उनका कहना था कि गंगा में प्रवाहित करने से पुण्य व नाले में लाश फेंकने से पाप नहीं लगता।

डॉ. आम्बेडकर और गाड़गे बाबा में काफ़ी कुछ आपसी सहमति थी। वे एक दूसरे का सम्मान करते थे। गाड़गे बाबा अपने प्रवचनों में डॉ. आम्बेडकर का जिक्र अवश्य करते थे। वे गाँव-गाँव जाकर डॉ. आम्बेडकर के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के बारे में लोगों को बताते थे। बाबा साहब भी गाड़गे का अक्सर जिक्र करते थे। एक बार जब गाड़गे बीमार

हुए तो बाबा साहेब उन्हें स्वयं देखने आये। उस समय आम्बेडकर भारत सरकार में कानून मंत्री पद पर थे। बाबा साहेब को आवश्यकता होती तो गाड़गे से किसी भी मामले पर सलाह अवश्य किया करते थे। 1956 में धर्म-परिवर्तन करने से पूर्व दोनों का परस्पर वार्तालाप हुआ था। छः दिसम्बर, 1956 को जब बाबा साहेब का निधन हुआ तो गाड़गे जी को बहुत धक्का लगा। काफ़ी दिनों तक उनका मन व्यथित रहा। वे जहाँ भी जाते उन्हें डॉ. आम्बेडकर की याद सताती। बड़ी मुश्किल से वे इस अनुपस्थिति से उत्पन्न बेचैनी को दूर कर सके। इसके लिए उन्होंने समाज सेवा में अधिक समय देना शुरू किया।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. जुगल किशोर, प्रकाशचंद्र राय, रणजीत कुमार मण्डल (सम्पा.) (2002), *भारत के अग्रणी समाज सुधारक*, सैचुरी पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. माता प्रसाद (2003), *भारत में सामाजिक परिवर्तन के प्रेरणा स्रोत*, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रामविलास भारती (2011), *बीसवीं सदी में दलित समाज*, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

— मोहनदास नैमिशराय

गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक

(Gayatri Chakravarty Spivak)

उत्तर-औपनिवेशिकता की प्रमुख सिद्धांतकार, अंतरराजशासनिक विद्वान और नीतिशास्त्रीय दार्शनिक गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1942-) ने अपनी बहुचर्चित रचनाओं में उपनिवेश-उपनिवेशित के संबंधों को परिभाषित करने के लिए विसंरचनावादी पद्धति का प्रयोग किया है। स्वयं को एक 'व्यावहारिक मार्क्सवादी-नारीवादी-विसंरचनावादी' कहने वाली स्पिवाक को पहली ख्याति ज़ाक देरिदा की रचना *द ला ग्रैमेटोलॉजी* के अनुवाद और उसकी भूमिका लिखने के कारण मिली। इसके बाद उन्होंने सबाल्टर्न इतिहासकार-समूह के सदस्य के रूप में कई अध्ययन किये और साहित्यालोचना के

क्षेत्र में साम्राज्यवाद और अंतर्राष्ट्रीय नारीवाद पर आलोचनात्मक निगाह डाली। 1988 में प्रकाशित अपने लेख 'कैन सबाल्टर्न स्पीक?' से विशेष ख्याति अर्जित करने वाली स्पिवाक ने सती प्रथा के इर्द-गिर्द चलने वाले विमर्श को नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। स्पिवाक ने पूछा कि सती के बारे में या तो ब्रिटिश उपनिवेशवादी लिखते हैं या फिर हिंदू समाज-सुधारक, लेकिन अपने पति की चिता पर खुद को जला देने वाली स्त्रियों की आवाज़ कभी नहीं सुनायी देती। स्पिवाक ने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या सती की अपनी आवाज़ की गैर-मौजूदगी इस सवाल को मंच पर पेश नहीं करती कि क्या सबाल्टर्न कभी बोल पायेगा, या उसके लिए और उसके नाम पर दूसरे ही बोलते रहेंगे।

साहित्यिक आलोचना में स्पिवाक की पहचान आर्थिक रूप से गुलाम राष्ट्रों की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति के क्रूर यथार्थ को सामने रखने वाले लेखन के समीक्षक के तौर पर है। बांग्ला कहानीकार और उपन्यासकार महाश्वेता देवी के साहित्य का स्पिवाक ने लम्बी भूमिका के साथ अनुवाद करके भारतीय साहित्यिक आलोचना में अपनी खास जगह बनायी है। नक्सलवाद से प्रभावित बंगाल के क्षेत्रों पर आधारित महाश्वेता की कई कहानियों ने लोकतांत्रिक व्यवस्था के मिथक को उजागर किया है। महाश्वेता की तीन महत्त्वपूर्ण कहानियों 'द्रौपदी', 'जशोदा' और 'डायन' का स्पिवाक ने अंग्रेज़ी में *ब्रेस्ट स्टोरीज़* नाम से अनुवाद किया। ये कहानियाँ बहुअर्थी हैं और इनमें नारीवादी विमर्श को सबाल्टर्न नज़रिये से देखा गया है। स्पिवाक ने इस साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीयता, देशभक्ति, सैन्य-बल, सुरक्षा और लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था को सबाल्टर्न की स्थिति और नज़रिये से प्रश्नांकित किया है। उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य की समीक्षा के माध्यम से स्पिवाक वर्गीय, लैंगिक, जनजातीय व क्षेत्रीय असमानता की असलियत का मुजाहिरा करती हैं। इस तरह की विषमताएँ समाज के ऐसे कई हिस्सों को अपनी बर्बर और क्रूर भींच में जकड़े हुए हैं जिनकी गिनती वर्तमान विश्व की चिंतनीय समस्याओं के तहत की ही नहीं जाती। स्पिवाक मिशेल फ़ूको द्वारा प्रतिपादित सत्ता की अवधारणा और ज़ाक देरिदा के विसंरचनावादी सिद्धांत के माध्यम से उत्तर-औपनिवेशिक साहित्यिक आलोचना का विकास करती हैं।

स्पिवाक ने साहित्यिक आलोचना के नये सिद्धांतों का प्रयोग नारीवादी तरीके से करने के साथ-साथ भूमण्डलीकरण और पूँजीवाद के परिप्रेक्ष्य में भी मार्क्सवाद और विसंरचनावाद के औज़ारों का इस्तेमाल करके उन्हें उत्तर-औपनिवेशिक स्थितियों से जोड़ा है। उनकी मान्यता है कि विशेष संदर्भों के आधार पर साहित्यिक पाठ का पुनर्पाठ और पुनर्व्याख्या आवश्यक है। उन्होंने पुनर्पाठ के लिए मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन, साहित्य आदि की



गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1942-)

सीमाओं को लाँघा है। व्यापक मुद्दों को साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में ला कर उन्होंने स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर माइक्रो स्तर की राजनीति को साम्राज्यवादी आख्यान की व्याख्या करने वाली मैक्रो स्तर की राजनीति से जोड़ा है। विसंरचनावाद के बारे में उनका कहना है कि यह न तो किसी प्रकार की संकीर्ण सौंदर्यशास्त्रीय धारणा है और न ही अति-क्रांतिकारी राजनीतिक विचारधारा, बल्कि यह एक वैचारिक तरीका है जो लगातार इस तरह ध्यान दिलाता है कि प्रत्येक निर्धारित पाठ अर्थ की बहुलता से सम्पन्न होता है। देरिदा ने विसंरचनावाद की सीमाओं की ओर संकेत करते हुए माना है कि किसी न किसी स्तर पर यह सिद्धांत अपनी स्थिति को विस्थापित और अपनी पूर्व धारणाओं का ही खण्डन करता है। स्पिवाक देरिदा से खुद को अलगाते हुए मानती हैं कि एक सीमा के बाद विसंरचना के बावजूद स्थिति विशेष का मूल्य कम नहीं होता। वे इसे विकसित देशों के बौद्धिक उत्पादन और तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों के शोषण के द्विभाजन से जोड़ती हैं। इस द्विभाजन को और जटिल बनाते हुए उन्होंने इसमें लैंगिकता, जनजातीयता और क्षेत्रीयता के मुद्दों को शामिल किया है।

मार्क्सवाद का इस्तेमाल करके स्पिवाक ने स्त्री की सामाजिक स्थिति की व्याख्या की है। मार्क्स उपयोगिता-मूल्य, विनिमय-मूल्य और अधिशेष-मूल्य के जरिये श्रमिक के शोषण और श्रम के मूल्य निर्धारण की व्याख्या करते हैं। स्पिवाक ने इसके माध्यम से परिवार में स्त्री के श्रम का मूल्यांकन और विश्लेषण किया है। मार्क्स के सिद्धांत को रूपक के तौर पर इस्तेमाल करते हुए अपने लेख 'फेमिनिज्म

एंड क्रिटिकल थियरी' में स्पिवाक ने लिखा है कि परम्परागत सामाजिक स्थितियों में स्त्री अतिरिक्त श्रम व उत्पादन करती है जिसका विनिमय-मूल्य बहुत कम दिया जाता है। जीवन-निर्वाह के लिए बदले में वह बहुत कम प्राप्त करती है क्योंकि वह आर्थिक रूप से स्वाधीन नहीं होती। परिवार में घरेलू स्त्रियाँ निरंतर अतिरिक्त श्रम व उत्पादन का स्रोत बन जाती हैं और पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति समझते हुए उस पर मालिकाना हक रखता है। स्पिवाक बहस करती हैं कि स्त्री को शारीरिक, भावनात्मक और कानूनी अधिकार के स्तर पर केवल उत्पादन/प्रजनन करने वाली व उसके द्वारा उत्पादित श्रम व संतान उत्पादित करने वाली वस्तु समझना अपर्याप्त होगा। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत और बेगानगी के सूत्रीकरण के माध्यम से स्त्री की सामाजिक स्थिति की व्याख्या करना भी अपर्याप्त होगा क्योंकि इसमें श्रम और उत्पादित वस्तु के बीच मानवीय संबंध की व्याख्या नहीं की गयी है। इसलिए लैंगिकता की समस्या जैसे कठिन विषय पर संवेदनशील बहस आवश्यक है। इस संदर्भ में स्पिवाक ने फ्रॉयड, लकाँ, इरिगरे आदि के सिद्धांतों व अवधारणाओं का विश्लेषण किया है। उन्होंने वर्तमान समीक्षा पद्धति में इन विचारकों की सीमाओं को देखते हुए इन सिद्धांतों के पुनर्लेखन की आवश्यकता रेखांकित की है।

स्पिवाक ने निम्न वर्ग के दृष्टिकोण से इतिहास-लेखन व इतिहास-दृष्टि की विसंरचना पर निगाह डाली है। वे पार्थ चटर्जी, दीपेश चक्रवर्ती व रणजीत गुहा आदि सबाल्टर्न इतिहासकारों की तुलना पश्चिमी ज्ञान व अकादमिक पद्धतियों से करती हैं। स्पिवाक ने मार्क्सवाद के परम्परागत रूप की भी समीक्षा की है और पश्चिमी मार्क्सवादी नजरिये से भारतीय निम्न वर्ग की समस्याओं की अभिव्यक्ति व विश्लेषण को अनुपयुक्त और अपर्याप्त माना है। उन्होंने मिशेल फूको और जील डलज़ की अवधारणाओं व तर्कों की समीक्षा भी की है।

देखें : उत्तर-औपनिवेशिकता, एडवर्ड विलियम सईद, जिग्मंड फ्रॉयड-1 और 2, जाक मारी लकाँ, जाक देरिदा, फ्रेंज़ फ़ानो, मिशेल पॉल फूको-1 और 2.

संदर्भ

1. स्टीफ़न मॉर्टन (2007), *इथिक्स, सबाल्टर्निटी एंड द क्रिटिक ऑफ़ पोस्टकोलोनियल रीजन*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1988), 'कैन द सबाल्टर्न स्पीक? स्पेकुलेशंस ऑन विडो सेक्रीफ़ाइस', सी. नेल्सन और एस. ग्राँसबर्ग (सम्पा.), *मार्क्सिज्म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, मैकमिलन एजुकेशन, बेसिंगस्टोक.
3. गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1999), *अ क्रिटिक ऑफ़ पोस्टकोलोनियल रीजन : टुवर्ड्स अ हिस्ट्री ऑफ़ द वेनिशिंग, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.*

4. साराह हैरिसम (सम्पा.) (1990), गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, द पोस्ट-कोलोनियल क्रिटिक : इंटरव्यूज़, स्ट्रेटजीज़, डायलागज़, रॉटलेज, न्यूयॉर्क

— शिवानी चोपड़ा

गिजुभाई बधेका

(Gijubhai Badheka)

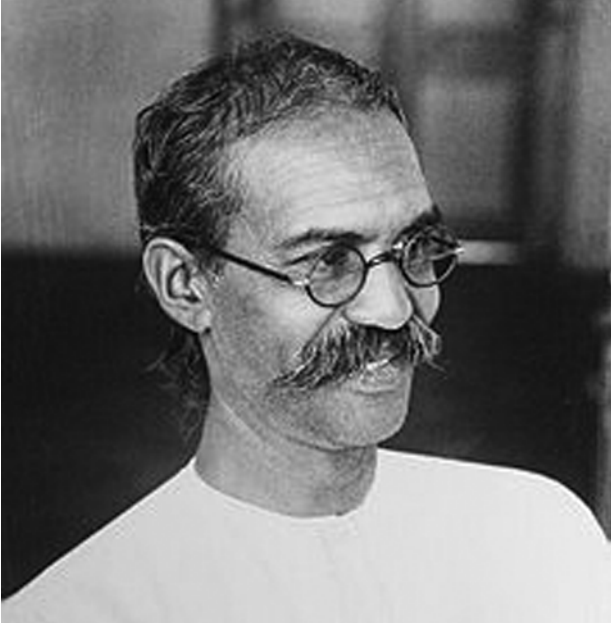
बाल-शिक्षा की अवधारणा में रैडिकल परिवर्तन करने वाले गिरिजाशंकर भगमान बधेका उर्फ गिजुभाई बधेका को बच्चों का गाँधी के नाम से भी पुकारा जाता है। बच्चे उन्हें मूँछों वाली माँ कह कर पुकारते थे, और स्वयं गिजुभाई को भी यही सम्बोधन प्रिय था। गिजुभाई ने बाल-शिक्षा के अपने अभियान के वैचारिक पक्ष के लिए मारिया मोटेसरी, फ्रेड्रिख फ्रोबेल और डाल्टन स्कूल की शिक्षण पद्धति को अपना कर उसमें भारतीय परिवेश के अनुरूप कई परिवर्तन किये। गिजुभाई ने मोटेसरी शिक्षण पद्धति को ग्रामीण भारत में और सीमित आर्थिक साधनों के साथ चलाने की अनूठी पहल की। उनके विद्यालय में बच्चों को पढ़ाने के लिए पाठ्यपुस्तकों के बजाय कहानियाँ, लोक कथाएँ, नाटकों, गायन, नृत्य, चित्रकारी जैसे वैकल्पिक तरीके अपनाये जाते थे। कई नाटकों में गिजुभाई स्वयं भी बच्चों के साथ अभिनय करते थे। इन नाटकों के मंचन में बच्चों को संवाद रटने के स्थान पर अपनी रचनात्मकता-कल्पना शक्ति के प्रयोग की पूरी छूट थी। गिजुभाई की शिक्षण पद्धति का उद्देश्य रटत और पुस्तकीय विद्या बाँटने के लिए नहीं बल्कि बच्चों को विचारशील, कल्पनाशील और संस्कारवान बनाना था। गिजुभाई बधेका ने बाल-शिक्षा के लिए किसी नये सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया, न ही उन्होंने बच्चों के मनोविज्ञान का अध्ययन किया। उन्होंने तो बच्चों के मनोविज्ञान से दुनिया को देखना-सोचना-समझना शुरू किया। इस प्रक्रिया में गिजुभाई ने बाल-शिक्षा की मूल अवधारणा को ही उलट दिया। बच्चों के सिखाने के स्थान पर बच्चों से सीखने की व्यवस्था आरम्भ की। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गिजुभाई बधेका ने बच्चों की स्वायत्तता की अवधारणा प्रस्तुत की और पूरे समर्पण से इस स्वायत्तता की रक्षा के लिए आंदोलन किया।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान एक तरफ़ तो भारतीय शिक्षा की स्वदेशी-पारम्परिक व्यवस्था ठप्प हो गयी थी, और दूसरी तरफ़ ब्रिटिश स्कूली शिक्षा प्रणाली की नक़ल में आधुनिक रोज़गारोन्मुखी शिक्षा देने के लिए जगह-जगह

पाठशालाएँ बन गयी थीं। ये पाठशालाएँ प्राथमिक कक्षा से ही एक पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रम, कठोर अनुशासन एवं सख्त नियमबद्धता के साँचे में ढाली गयी थीं। यहाँ शिक्षक केवल एक वेतनभोगी कर्मचारी था और उसका दायित्व बालकों को इतना साक्षर बना देना था ताकि वे भविष्य में आज्ञाकारी आदेशपालक बन सकें। स्कूलों में बच्चों के आनंद और किलकारी के स्थान पर शिक्षकों की प्रताड़ना और फटकार की गरज थी। बच्चों में उत्साह और उत्सुकता के स्थान पर उदासीनता और उदासी छाया रहती थी।

अपने पहले बेटे, नरेंद्रभाई की समुचित शिक्षा की खोज में गिजुभाई को मोटेसरी शिक्षा की पद्धति के बारे में एक गुजराती किताब पढ़ने को मिली जिसने उन्हें बाल-शिक्षा के बारे में एकदम नये दृष्टिकोण से परिचित कराया। 1916 में गिजुभाई ने अपनी वकालत छोड़ कर भावनगर में दक्षिणमूर्ति नामक एक छात्रावास के उपअधीक्षक का पद ग्रहण किया। यहाँ पर गिजुभाई ने देखा कि इस छात्रावास के अधिकतर बच्चे मशीनी शिक्षण पद्धतिवाले स्कूलों में पढ़ने जाते हैं तो उन्होंने इस विसंगति को दूर करने के लिए दक्षिणमूर्ति छात्रावास में ही एक शिक्षण संस्थान स्थापित किया और स्वयं उसके प्राचार्य बने। इसके साथ ही गिजुभाई ने अपने तीन वर्षीय पुत्र को मोटेसरी प्रणाली के अनुसार प्रशिक्षित करना शुरू किया। इसी प्रक्रिया में गिजुभाई को प्राथमिक शाला से पहले की बाल-शिक्षा की अहमियत समझ में आयी। 1920 में गिजुभाई बधेका ने भावनगर में दक्षिणमूर्ति बाल मंदिर की स्थापना की। बाल मंदिर अर्थात - बच्चों का मंदिर और इसका मूल मंत्र था 'बाल देवोभव'। बच्चे ही इस मंदिर के देवता थे। बच्चों के आने पर गिजुभाई पूरे सत्कार से उनका स्वागत करते और लौटते समय उनसे पुनः आने का आग्रह भी करते। यह एक पूर्व-प्राथमिक शिक्षा (नर्सरी) विद्यालय था। गिजुभाई ने लोगों से अपने दो-ढाई साल के बच्चों को विद्यालय भेजने का अनुरोध किया जबकि उस समय छह या सात साल की आयु के बच्चों को पाठशाला भेजा जाता था। बाल-शिक्षा में यह एक अभिनव प्रयोग माना गया। बच्चों के प्रति स्नेह और बच्चों की पूर्ण स्वतंत्रता ही इस बाल मंदिर का सैद्धांतिक आधार था।

1925 में गिजुभाई बधेका ने अपनी बाल शिक्षण पद्धति के प्रसार हेतु दक्षिणमूर्ति अध्यापक मंदिर की स्थापना की और इस संस्था ने लगभग 600 अध्यापकों को प्रशिक्षित किया। बाल साहित्य सृजन में गिजुभाई बधेका का योगदान बहुत विशाल है। उन्होंने बाल-कहानियों, बाल-गीतों, एकांकी, यात्रा व साहसिक अभियानों पर क़रीब सौ पुस्तकें लिखी हैं। गिजुभाई की एक लम्बी कहानी 'दिवास्वप्न' बाल शिक्षा के नये स्वरूप का घोषणापत्र जैसी ही है। इसमें गिजुभाई ने बाल शिक्षा के लिए बाल-श्रम शोषण शिविर



गिजुभाई बधेका (1885-1939)

(लेबर कैंप) व शारीरिक प्रताड़ना से मुक्त करने वाली वैकल्पिक व्यवस्था की कल्पना की थी। 'दिवास्वप्न' आज भी बाल शिक्षा संबंधित साहित्य में सिरमौर मानी जाती है। एक व्यावहारिक व्यक्ति की तरह गिजुभाई बधेका ने केवल दिवास्वप्न देखा और लिखा ही नहीं बल्कि उसे धरती पर साकार भी किया।

गिजुभाई ने ईट-गारे के कैम्पस बनाने के साथ-साथ बाल शिक्षा में कई क्रांतिकारी परिवर्तनों का समावेश किया। उन्होंने विद्यालय के प्रति बच्चों में भय का भाव हटाने का प्रयास करके विद्यालय में ऐसा वातावरण बनाने पर जोर दिया जिससे बच्चे वहाँ स्वेच्छा और उत्साह से पढ़ने आएँ। पढ़ाई की निश्चित समय सारिणी, पाठ्यक्रम, होम वर्क और शिक्षकों के रौब जमाने वाले अनुशासन को गिजुभाई ने अपनी पाठशाला में कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने दकियानूसी रटत विद्या के स्थान पर बच्चों में सीखने-समझने की क्षमता बढ़ाने पर ध्यान दिया। एक सी उबाऊ नीरस पाठ्यपुस्तकों के स्थान पर कहानियों, गीतों और रोचक घटनाओं की विभिन्न किताबों का प्रयोग किया ताकि बच्चों में नयी बातें जानने-सीखने की ललक बढ़े। गिजुभाई ने पढ़ाई और परीक्षा के गठजोड़ को तोड़ने का भी काम किया और शिक्षा द्वारा बच्चों में क्रमिक विकास लाने की प्रक्रिया शुरू की। परीक्षाओं के मौसम में केवल रटे-रटाये सवाल-जवाब की परम्परा को हटा कर उसके स्थान पर लगातार सीखने की व्यवस्था स्थापित की। उन्होंने अपने प्रत्येक विद्यालय में किसी भी तरह की नैतिक उपदेशात्मक शिक्षा को पूरी तरह से हटा दिया। यहाँ तक कि गिजुभाई ने महात्मा गाँधी द्वारा बच्चों को नैतिक शिक्षा देने वाली पुस्तक *बाल पोथी* को भी बच्चों के लिए

अनुपयुक्त माना। महात्मा गाँधी ने गिजुभाई की इस आलोचना को सही मान कर *बाल पोथी* के आगे प्रकाशन और वितरण को रोक दिया। गिजुभाई ने भाषा और व्याकरण को अलग-अलग नहीं बल्कि एक साथ पढ़ाने का काम किया, शिक्षा देने में लिखित शब्दों के स्थान पर श्रव्य-दृश्य साधनों का ज्यादा प्रयोग किया।

1925 में गिजुभाई ने ताराबाई मोदक के साथ मिल कर गुजराती भाषा में *शिक्षण पत्रिका* का प्रकाशन किया जिसमें उन्होंने तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता समझायी। आम लोगों को अपनी शिक्षण प्रणाली के बारे में बताने के उद्देश्य से उन्होंने भावनगर और अहमदाबाद में दो सम्मलेन आयोजित किये। सन 1926 में गिजुभाई और ताराबाई मोदक ने मिलकर नूतन बाल शिक्षण संघ की स्थापना की। इस संस्था ने कई जगहों पर बाल मंदिर तथा शिशु विहार स्थापित करते हुए इस पूरे अभियान को एक संस्थागत स्वरूप दिया। शहरी इलाकों में बाल मंदिर काफी लोकप्रिय भी हुए, क्योंकि वहाँ बच्चों के रहने-खेलने के लिए समुचित स्थान था, देखभाल के लिए सही संख्या में लोग और बाल शिक्षा के लिए प्रशिक्षित शिक्षक भी उपलब्ध थे। शहरी इलाकों में स्थित बाल मंदिरों में लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने बच्चों को लेकर आते थे। उन्हें निर्धारित शुल्क देने में भी कोई परेशानी नहीं थी। लेकिन यही लोग बाल मंदिर में एक औपचारिक पाठ्यक्रम की व्यवस्था भी चाहते थे जिससे उनके बच्चे अपनी स्कूली शिक्षा समय से पहले ही पूरी कर सकें। ताराबाई मोदक ने बम्बई में एक दलित बहुल इलाके में बाल मंदिर स्थापित किया तो उन्हें यकीन हो गया कि गरीब तथा वंचित बच्चों में मध्यम और उच्च वर्ग के बच्चों की तुलना में बाल शिक्षा की आवश्यकता कहीं ज्यादा है और इन बच्चों के सीखने की प्रक्रिया भी अलग है। ग्रामीण क्षेत्रों में बाल शिक्षा के प्रसार के लिए सन् 1936 में ताराबाई ने बम्बई से 160 किलोमीटर दूर ग्राम बाल शिक्षा केंद्र की स्थापना की। गिजुभाई ने अपने लेखन द्वारा बच्चों से अधिक उनके माता-पिता और शिक्षकों को पढ़ाने का प्रयास किया। कई जगहों पर उन्होंने अपनी किताबों में निर्देश दिये कि बच्चों को आनंद के लिए पढ़ाया जाए न कि मुखाग्र या कंठस्थ कराने के उद्देश्य से। गिजुभाई ने शिक्षक को शाला का आधार-स्तम्भ माना और बच्चों की शारीरिक स्वच्छता, पाठशाला की स्वच्छता और स्वस्थ वातावरण को बेहद महत्वपूर्ण व आवश्यक दर्जा दिया।

1936 में अपने सहयोगियों से मतभेद के कारण गिजुभाई ने दक्षिणमूर्ति की संस्था छोड़ दी और राजकोट में एक अध्यापक मंदिर की स्थापना की। दुर्भाग्यवश 23 जुलाई, 1939 को गिजुभाई का निधन हो गया।

देखें : औपनिवेशिक शिक्षा, गिजुभाई बधेका, धोंडो केशव कर्वे, वर्धा शिक्षा योजना।

संदर्भ

1. जी पंकजम (2005), *प्री प्राइमरी एजुकेशन : फलसफा एंड प्रैक्टिस*, कांसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली.
2. गिजुभाई बधेका (1932), *दिवास्वप्न*, नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
3. गिजुभाई बधेका (अनु. रामनरेश सोनी), *गिजुभाई रत्नावली, बाल शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया*, सर्जना, बीकानेर.

— रवि दत्त बाजपेयी

गुन्नार मिर्डाल

(Gunnar Myrdal)

स्वीडिश विद्वान कार्ल गुन्नार मिर्डाल (1898-1987) को अर्थशास्त्र में परम्परागत रूप से प्रचलित संतुलनावस्था विश्लेषण का सैद्धांतिक विकल्प पेश करने का श्रेय जाता है। अपने नये सूत्रीकरणों के जरिये उन्होंने नस्ली भेदभाव, गरीबी और बेरोजगारी घटाने के प्रस्ताव पेश किये और मुक्त बाजार नीतियों के परे जा कर अर्थव्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों को समझने की चेष्टा की। एक समाज वैज्ञानिक के रूप में मिर्डाल की रुचियों का दायरा व्यापक था। मिर्डाल ने विश्व स्तर पर वास्तविक आर्थिक मुद्दों की शिनाख्त की और मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और सांस्कृतिक कारकों का सहारा ले कर एक नया अर्थशास्त्र रचने का प्रयास किया। वे एक अनूठे अर्थशास्त्री थे जिन्होंने आर्थिक सिद्धांत के साथ-साथ आर्थिक नीतियों के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान किया।

स्वीडन के स्वोलवाबो गाँव में एक धनी भू-स्वामी परिवार में पैदा होने के बाद गुन्नार मिर्डाल को बेहतरीन शिक्षा प्राप्त करने का मौका मिला। पहले उन्होंने क्रानून की डिग्री हासिल की, पर बाद में अपनी पत्नी के आग्रह पर अर्थशास्त्र का अध्ययन किया और उसी विषय में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। 1932 में स्वीडन की सामाजिक-जनवादी सरकार ने आवासन और जनसंख्या आयोग में उन्हें नियुक्त किया। वे दो बार स्वीडिश संसद के सदस्य भी रहे। चालीस के दशक के मध्य में मिर्डाल स्वीडन के युद्धोपरांत नियोजन आयोग के सभापति बनाये गये। वे वाणिज्य और व्यापार मंत्री भी रहे।

ऐडम स्मिथ ने अगर राष्ट्रों की समृद्धि के कारण का विश्लेषण किया, तो मिर्डाल ने राष्ट्रों की गरीबी के कारण पता लगाये। उन्होंने यह मानने से इनकार किया कि समानता और आर्थिक वृद्धि साथ-साथ सम्भव नहीं हैं। समाज वैज्ञानिकों,

खासकर अर्थशास्त्रियों, को आड़े हाथों लेते हुए उन्होंने कहा कि वे एक ऐसी भाषा में अपनी बात कहते और बोलते हैं जो आम लोगों की समझ से बाहर होती है। एक विद्वान जो लिखता है, उसे केवल दूसरा विद्वान ही समझ पाता है। मिर्डाल की मान्यता थी कि इस रवैये के कारण समाज-विज्ञान का सामाजिक महत्त्व कम हो जाता है। वे वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता की आड़ में अर्थशास्त्रियों द्वारा अपने मानकीय आग्रह छिपाने के भी खिल्लाफ थे। उन्होंने जोर दे कर कहा कि अर्थशास्त्रियों को अपने पूर्वग्रह स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए। 1974 में फ्रेड्रिख हायक के साथ नोबेल पुरस्कार मिलने पर उनका कहना था कि अर्थशास्त्र जैसे अवैज्ञानिक अनुशासन के लिए यह एक अनुपयुक्त पुरस्कार है। वे अक्सर कहते थे कि जब पुरस्कार कमेटी ने उन्हें नोबेल जीतने की सूचना दी तो बहुत सवैरे का वक्त था और वे ठीक से जागे भी नहीं थे, वरना वे उसे स्वीकार नहीं करते।

गुन्नार मिर्डाल को स्वीडन के कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के मुख्य शिल्पियों में से एक माना जाता है। राजकोषीय नीतियों के कीसियन इस्तेमाल के जबरदस्त पैरोकार के रूप में उन्होंने स्वीडन के वित्त मंत्री से ऐसी नीतियाँ बनवायीं जिनके तहत सार्वजनिक निर्माण पर धन खर्च करके सरकार बेरोजगारी कम करने में कामयाब रही। बीस के दशक में अर्थव्यवस्था से की जाने वाली उम्मीदों और उनके वास्तविक परिणामों के बीच फ़र्क होने से काफ़ी भ्रम की स्थिति थी। व्यापारी मुनाफ़े की उम्मीद में निवेश करते थे, पर उन्हें घाटा उठाना पड़ता था। अतिरिक्त बचत की स्थिति न होने पर भी व्यापार-जगत निवेश करता रहता था। सिद्धांत यह था कि बचत और निवेश बराबर-बराबर होने चाहिए। मिर्डाल ने अपेक्षित और वास्तविक परिणामों के बीच फ़र्क की पहली सुलझायी। उन्होंने एक आर्थिक प्रक्रिया के शुरूआती कारकों अथवा चरों की और अंत के चरों की अलग-अलग गणना की। उन्होंने दिखाया कि आर्थिक प्रक्रिया के प्रारम्भ में अगर निवेश बचत के स्तर से ज्यादा हो तो मुनाफ़े और आमदनी में वृद्धि के कारण बचत की मात्रा और बढ़ेगी। इस तरह प्रक्रिया के अंत में बचत निवेश के बराबर हो जाएगी। लेकिन अगर प्रक्रिया के आरम्भ में बचत निवेश से अधिक हुई तो परिणाम मंदी में निकलेगा, नौकरियाँ जाएँगी और मुनाफ़ा गिर जाएगा। अपने उत्पादों को बेचने में नाकाम रहने पर व्यापारी निवेश और घटा देंगे। इसके कारण प्रक्रिया के आखिर में एक बार फिर बचत और निवेश का स्तर बराबर हो जाएगा।

संतुलनावस्था विश्लेषण (इक्विलीबरियम एनालैसिस) की नयी व्याख्या करने के बावजूद मिर्डाल इस सिद्धांत से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने इसकी जगह *संचयी कार्य-कारण संबंध* (क्यूमिलेटिव कांजेशन) सिद्धांत प्रस्तावित किया। इस सिद्धांत



कार्ल गुन्नार मिर्डाल (1898-1987)

का पहला प्रयोग मिर्डाल के गुरु कुंट विकसेल ने किया था, पर मिर्डाल ने उसका सुविचारित वर्णन करके उसके महत्त्व की स्थापना की। संतुलनावस्था का सिद्धांत एकदिशीय गति के हिसाब से चलता था जिसके तहत माना जाता था कि एक चर दूसरे को प्रभावित करके बढ़ाता या घटाता है पर दूसरा पहले पर कोई प्रभाव नहीं डालता और इस प्रक्रिया में एक नयी संतुलनावस्था प्राप्त हो जाती है। संचयी कार्य-कारण संबंध के तहत मिर्डाल की मान्यता यह थी कि दोनों चर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक चर में हुआ परिवर्तन दूसरे पर असर डालेगा जिसके कारण पहला चर फिर से प्रभावित होगा। यह क्रम चलता रहेगा, कोई संतुलनावस्था पैदा नहीं होगी और आर्थिक तंत्र स्थायित्व की उस स्थिति में नहीं आयेगा जिसकी उम्मीद इक्विलीब्रियम एनालैसिस द्वारा की जाती है। अगर दोनों चरों में वृद्धि होती है तो एक सकारात्मक लूप बनेगा और लाभ चक्र पैदा होगा। अगर दोनों में गिरावट होती है तो नकारात्मक लूप तैयार होगा जिसका नतीजा हानि चक्र में निकलेगा। संचयी कार्य-कारण संबंध का इस्तेमाल करके मिर्डाल ने गरीबी और नस्ली भेदभाव की समस्याओं की आर्थिक व्याख्या करने का प्रयास किया।

1938 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में भाषण देते समय कारनेगी फ़ाउंडेशन ने उनसे अमेरिकी में नस्ली भेदभाव की समस्या के अध्ययन का अनुरोध किया। अगले पाँच साल तक मिर्डाल इस काम में लगे रहे जिसका नतीजा एन

अमेरिकन डिलेमा जैसी विख्यात कृति में निकला। मिर्डाल ने दस्तावेज़ी प्रमाणों के जरिये दिखाया कि न्याय और समान अवसर के उसूलों में आस्था के बावजूद अमेरिका में अश्वेतों के साथ किस-किस तरह से भेदभाव होता रहा है जिसके कारण दोनों प्रजातियों की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों में बहुत अंतर आ गया है। इस परिस्थिति को उन्होंने अमेरिका के नैतिक द्वंद्व की संज्ञा दी। उन्होंने दावा कि कालों के साथ किया जाने वाला भेदभाव प्रौद्योगिकीय दृष्टि से विकसित समाज की जरूरतों के विपरीत है। अश्वेतों को शिक्षित-प्रशिक्षित न करने, उन्हें आगे बढ़ने के अवसर उपलब्ध न कराने और उन्हें रोज़गार न देने के कारण ही अमेरिकी अर्थव्यवस्था का प्रदर्शन खराब है। भेदभाव के कारण अश्वेत समाज जिस दुर्गति को प्राप्त हुआ है, उसके कारण श्वेत समाज के भीतर उसकी नकारात्मक छवियाँ रूढ़ हो गयी हैं कि ये लोग तो ऐसे ही हैं। इसकी वजह से भेदभाव के गर्भ से और भेदभाव पैदा होने के हालात बन गये हैं। पूरा अश्वेत समाज संचित भेदभाव का शिकार हो चुका है।

संचयी कार्य-कारण संबंध के सिद्धांत का इस्तेमाल करते हुए मिर्डाल ने नतीजा निकाला कि अश्वेत समाज के संदर्भ में दोनों चर परस्पर अन्योन्यक्रिया करते हुए नकारात्मक लूप बना रहे हैं। इसे सकारात्मक लूप में बदलने के लिए संस्थागत प्रयास करने होंगे। उन्होंने सिफ़ारिश की कि अश्वेतों को अमेरिका के ग्रामीण दक्षिणी हिस्से से औद्योगिक उत्तर और पश्चिमी इलाकों में जाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए जहाँ भेदभाव इतना ज़्यादा नहीं है और रोज़गार के अवसर भी अधिक हैं। केवल इसी तरीके से अश्वेत समाज युद्धोपरांत विकसित हुई अमेरिकी अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत हो सकता है।

अपने इसी सैद्धांतिक मॉडल के सहारे मिर्डाल ने दक्षिण एशियाई गरीबी की जाँच-पड़ताल की और *एशियन ड्रामा* जैसी विख्यात पुस्तक लिखी। यहाँ उन्होंने 'स्प्रेड इफ़ेक्ट' और 'बैकवाश इफ़ेक्ट' की थीसिस दी। अगर एक इलाके का विकास होता है तो उसके प्रभावों का विस्तार होता है और दूसरे इलाके भी प्रभावित होते हैं। जबकि गरीबी अपने गर्भ से गरीबी को जन्म देती रहती है। दरिद्र इलाकों में जन्म दर अधिक होती है, पोषण का स्तर गिरा हुआ होता है और श्रम की उत्पादकता कम रहती है। उन्होंने नकारात्मक लूप की जगह सकारात्मक लूप क्रायम करने के लिए विकासशील देशों की सरकारों को सलाह दी कि वे शिक्षा पर जम कर खर्च करें। स्वच्छता, साफ़ पानी और जन-सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाएँ। नागरिकों की आमदनी में ऊँच-नीच कम करने के लिए मिर्डाल ने सरकारों से कहा कि उन्हें इसके लिए भी अलग से कार्यक्रम डिज़ाइन करने चाहिए।

मिर्डाल की मुख्य थीसिस थी विकास से विकास पैदा

होता है और गरीबी से गरीबी। निश्चित रूप से समानता और विकास की समस्वरता में यक्रीन न करने वालों के मुक्राबले यह एक रैडिकल थीसिस थी। पर, यह थीसिस विकास से पैदा होने वाली गरीबी, लोगों के विस्थापन और बदली हुई जीवन-शैली के कारण आने वाले सांस्कृतिक संकटों पर पर्याप्त ध्यान देने में नाकाम रही।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमेन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. जेम्स अग्रेसानो (1997), *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ गुनार मिर्डाल*, एडवर्ड एल्वर, चेल्टनहेम, यूके.
2. जी. लॉयड रेनॉल्ड्स (1976), 'गुनार मिर्डाल्स कंट्रीब्यूशन टू इकॉनॉमिक थियरी, 1940-1970', *स्वीडिश जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स*, 76.
3. ए. वाल्टर जेक्सन (1990), *गुनार मिर्डाल ऐंड अमेरिकाज़ कांशेंस : सोशल इंजीनियरिंग ऐंड रैडिकल लिबरलिज़म*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, नॉर्थ कैरोलिना, चापेल हिल.
4. जाइल्स दोस्तलर वगैरह (सम्पा.) (1992), *गुनार मिर्डाल ऐंड हिज़ वर्क*, हारवेस्ट हाउस, मांट्रियल.

— अभय कुमार दुबे

गुरु घासीदास

(Guru Ghasidas)

अठ्ठारहवीं सदी में सतनामी आंदोलन के माध्यम से अछूत समझी जाने वाली जातियों में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का प्रसार करने वाले गुरु घासीदास (1756-1836) निचली जातियों से आये संतों की परम्परा के महापुरुष थे। अपने जीवन में गरीबी और छुआछूत से संघर्ष करते हुए उन्होंने मध्य भारत के छत्तीसगढ़ इलाके में चर्मकार जातियों को एक नये सम्प्रदाय में संगठित किया। हिंदू धर्म के अनगणित देवी-देवताओं को खारिज करते हुए घासीदास ने एकेश्वरवाद का संदेश दिया। उन्होंने जिस ईश्वर की पैरोकारी की वह निराकार और अनंत के रूप में परिभाषित किया गया। घासीदास ने जातिगत विभेदों की निंदा की और सामाजिक समता का उपदेश दिया। उन्होंने कहा सभी मनुष्य बराबर हैं, ईश्वर एक है और उसका नाम सतनाम (सत्यनाम) है। घासीदास से पहले उत्तर भारत में जगजीवन दास ने इसी प्रकार का मत चलाया था। लेकिन छत्तीसगढ़ के इलाके में गुरु घासीदास के विचारों का प्रचार-प्रसार अधिक प्रभावी साबित हुआ। कन्हैया लाल चंचरीक के अनुसार सतनामी आंदोलन जातिगत संगठन और समाज-सुधार की दिशा में एक अनूठा प्रयोग माना जा सकता है। इस क्षेत्र में कबीरपंथ का भी असर था, पर कबीरपंथी इस प्रकार संगठित नहीं हो पाये। सतनामी सम्प्रदाय का शुरुआती रूप धार्मिक था जो बाद में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन बन गया। सतनामी सम्प्रदाय के प्रभाव वाले इलाकों में दुर्ग, रायपुर, बिलासपुर आदि जिले हैं। मूल रूप से ज़्यादातर चमार जाति के लोग ही सतनामी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।

घासीदास का जन्म रायपुर जिले के गिरोदा गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम महंगूदास तथा माँ का नाम अमरोतिन था। बचपन से ही उनमें अपनी ही बिरादरी में प्रचलित ऊँच-नीच के रीति-रिवाजों के प्रति गहरी अरुचि उन्हें सही रास्ते की तलाश में दूर-दूर तक ले गयी। एक दिन घासीदास तालाब के किनारे बैठे थे। उन्होंने देखा कि एक बड़ी मछली ने छोटी मछली को निगल लिया है। छोटे को बड़े का आहार बनता देख उन्होंने सोचा कि क्या सदैव ऐसा होता आया है। उनके मन में इस विचार आया कि यदि ऐसा ही मनुष्यों के बीच होता है तो यह अन्याय है। उनके विरक्त भाव को देख कर माँ-बाप ने उन्हें विवाह के बंधन में भी बाँधा, लेकिन वे घासीदास को नहीं रोक पाये। 1820 के दशक में घासीदास अपने भाई के साथ पुरी की यात्रा पर निकल गये। कहा जाता है कि सारंगगढ़ के रास्ते में उन्हें ज्ञान-प्राप्ति हुई जिसके बाद उन्होंने सतनाम की घोषणा करके



गुरु घासीदास (1756-1836)

अपने गाँव वापसी की। उन्होंने सामान्य जीवन त्याग कर संन्यासी की दिनचर्या ग्रहण की और जंगल में तपस्या करने चले गये। छह महीने बाद लौट कर घासीदास ने मूर्तिपूजा त्यागने और सतनाम अपनाने का उपदेश देना शुरू किया। गिरोदपुरी की पहाड़ियों पर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात उन्होंने भण्डारपुरी को अपनी कर्मस्थली बनाया। यहीं से तीन किलोमीटर की दूरी पर ऐतिहासिक तैलासी ग्राम में सतनाम धर्म की दीक्षा का प्रथम सूत्रपात किया। उन्होंने दांतेवाड़ा, बस्तर, अमरकंटक, जबलपुर, बालाघाट, मण्डला, सिवनी, छिंदवाड़ा, उमरिया आदि इलाकों की यात्राएँ कीं और अपना संदेश फैलाया। जल्दी ही उनके इर्द-गिर्द अनुयायी जमा होने लगे। घासीदास द्वारा सतनामी समाज की स्थापना होने पर एक तरफ़ दलितों तथा पिछड़े समाज के भीतर आशा जगी, और दूसरी तरफ़ ब्राह्मणों और पुरोहितों ने दलित समाज का जीना मुश्किल कर दिया। इसके जवाब में घासीदास को एक अलग धार्मिक सेना का गठन करना पड़ा। उन्होंने दलितों-शोषितों में जाकर एलान किया कि अगर आप सभी सतनामी समाज की सभा के सूत्र में बंध जाएँगे तो बड़ा छोटे को नहीं सता पायेगा। गुरु घासीदास ने जिस सतनामी विचार को छत्तीसगढ़ में लोकप्रिय किया, उसका इतिहास सत्रहवीं सदी

से शुरू होता है। इतिहास में मुगलों की हुकूमत के खिलाफ़ 1672 का सतनामी विद्रोह दर्ज है।

गुरु घासीदास के उपदेशों में बुद्ध के संदेश झलकते हैं। उनका कहना था कि सत्य के रास्ते पर चलो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, अंधविश्वास से दूर रहो, मूर्ति-पूजा से छुटकारा पाओ। उन्होंने अपने अनुयायियों को समझाया कि कि मंदिरों तथा प्रार्थना-स्थलों पर माथा पटकने से कुछ हासिल नहीं होगा। कोई मंदिर तुम्हें भुखमरी से नहीं बचा सकता, कड़ी मेहनत से ही तुम अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकोगे। सत्य के मार्ग का अनुसरण करने से ही कल्याण होगा। दलित समाज को शोषण अन्याय से बचाने के लिए हमें एकजुट होकर संघर्ष करना होगा। घासीदास ने अपने समाज कड़ी मेहनत करने की अपील की ताकि सभी की सामूहिक प्रगति हो सके। घासीदास ने सतनामियों के बीच पंथी गीत और नृत्य का प्रचलन किया। उनकी जीवनी, उपदेश, वाणी को पंथी गीत में गाया जाता है। यह समूह नृत्य है जिसमें मादल, झांझ, मृदंग, मंजीरे, घुंघरु आदि का इस्तेमाल होता है। घासीदास के बाद उनके बेटे बालकदास ने उनकी गद्दी सँभाली।

आगे चल कर सतनामी सम्प्रदाय में संत रामानंद के विचारों का भी प्रभाव पड़ा और इस प्रक्रिया में यह हिंदू समाज का ही उपांग बन गया। मानवशास्त्री सौरभ दुबे ने छत्तीसगढ़ इलाके के सतनामियों का अध्ययन करते हुए उनका इतिहास दो भागों में बाँट कर पेश किया है। पहला हिस्सा 1780 से 1900 तक का है, और दूसरा हिस्सा अगले पचास साल यानी 1900 से 1950 तक जाता है। 1950 में ही सतनामी गुरु अगमदास ने कांग्रेस के टिकट पर छत्तीसगढ़ से लोकसभा का चुनाव जीता। उस समय डॉ. आम्बेडकर के नेतृत्व वाली आल इण्डिया शेड्यूल कास्ट फ़ेडरेशन सतनामियों का समर्थन पाने में नाकाम रही। अनुयायियों के बीच अगमदास की जीत को 'राजधानी दिल्ली में गुरु-गद्दी' के रूप में देखा गया।

दिलचस्प बात यह है कि आगे चल कर जिन ब्राह्मणी मूल्यों को घासीदास ने खारिज किया था, वे ही विभिन्न रास्तों से इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को प्रभावित करते देखे गये। गुरु घासीदास की शिष्यता के इर्द-गिर्द गढ़े गये मिथकों का बाबा रामचंद्र जैसे महाराष्ट्र ब्राह्मण राष्ट्रवादियों से लेकर ईसाई मिशनरियों तक ने अपने-अपने पक्ष में तात्पर्य-निरूपण किया।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, जगजीवन राम, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम,

भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. सौरभ दुबे (2001), *अनटचेबिल पास्ट्स : रिलाजन्, आइडेंटिटी, ऐंड पावर एमंग अ सेंट्रल इण्डियन कम्युनिटी, 1780-1950*, विस्तार पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. स्वामीराम बंजारे सरल (2010), *छत्तीसगढ़ के लोक जीवन में पंथी गीतों का महत्त्व*, बयान, दिसम्बर, नयी दिल्ली.

— मोहनदास नैमिशराय

गेटकीपिंग

(Gatekeeping)

गेटकीपिंग सूचना के निर्धारण और चयन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें समाचार की प्रकृति और उसकी विषय-वस्तु का निर्धारण किया जाता है। साथ में यह भी ध्यान में रखा जाता है कि इसका स्वरूप क्या होना चाहिए। गेटकीपिंग के सिद्धांत का उद्गम दिलचस्प है। इसका शाब्दिक अर्थ है चौकीदारी करना। यानी ऐसा व्यक्ति जो हर जाने-अनजाने व्यक्ति की प्रामाणिकता परख कर ही गेट के भीतर जाने देता है। इस प्रकार के दृश्य किसी भी कार्यालय, रिहायशी सोसाइटी अथवा अपार्टमेंट में दिखाई देते हैं। दरअसल यह शब्द सामाजिक मनोविज्ञान के अनुशासन की देन है जिसे सबसे पहले सोशल साइकोलॉजिस्ट कर्ट लेविन ने 1943 में गढ़ा था। कर्ट लेविन ने अपने लेख 'फोर्सेज बिहाइंड फूड हैबिट ऐंड मैथेड आफ्र चेंज' में लिखा था कि कैसे खाने की एक वस्तु खेत से लेकर स्टोर तक, फिर स्टोर से लेकर खाने की टेबल तक एक लम्बी प्रक्रिया में पहुँचती है। उसे कई चैनलों से गुजरना पड़ता है और इस चैनल का जो सबसे बड़ा नियंत्रक है वह है पत्नी। उसकी मर्जी के बिना कोई भी चीज़ खाने की मेज़ तक नहीं पहुँच सकती। लेविन ने अपने अध्ययन में बताया था कि कैसे एक ही परिवार के सभी सदस्यों का वज़न एक जैसा नहीं होता और इसके लिए घर की मालकिन अथवा पत्नी व्यक्ति विशेष की इच्छाओं और ज़रूरतों के हिसाब से खाना देती है। यह इस बात का प्रतीक है कि कोई न कोई आपके घर में है जो आपके खाने की भी चौकीदारी करता है। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में हमेशा इस बात को सर्वोपरि रखा जाता है कैसे खाने के माध्यम से न केवल परिवार के सदस्यों की तंदरुस्ती ठीक रखी जाए बल्कि उनकी निर्णय-क्षमता को भी निखारा जाए। खाने की मेज़ से पैदा हुए इस सिद्धांत को 1950 में मीडिया-विमर्श का हिस्सा

बना लिया गया।

गेटकीपिंग को मीडिया-विमर्श का हिस्सा बनाने से पहले डी.एम. व्हाइट नाम के विद्वान ने इस पर एक शोध किया। उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि किसी भी समाचार का चयन करते समय सम्पादक की ज़िम्मेदारी होगी कि वह इस बात पर गौर करे कि कौन-सा समाचार अखबार का हिस्सा बनने लायक है और कौन सा नहीं। इसके लिए व्हाइट ने एक ऐसे सम्पादक से सम्पर्क किया जिसकी आयु लगभग 45 के आसपास रही होगी और जिसे पत्रकारिता का लगभग 25 वर्ष का अनुभव था। उसका नाम गेट्स था। गेट्स के अखबार की प्रसार-संख्या 30,000 से अधिक थी। जब व्हाइट ने गेट्स से अपने अध्ययन के दौरान पूछा कि ऐसे कौन से कारण हैं जिनकी वजह से आप कई समाचारों को प्रकाशित न करने का निर्णय लेते हैं तो उन्हें जवाब मिला कि इसके मूलतः दो कारण हैं : पहला, समाचार में कोई मूल्य न होना; और दूसरा, एक ही विषय पर एक जैसे दो समाचारों का प्रकाशन न करना। इसका मतलब यह हुआ समाचार-जगत में गेटकीपिंग का सिद्धांत दो बातों पर निर्भर करता है। एक समाचार के मूल्य पर और दूसरा उसकी नवीनता पर।

कर्ट लेविन द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत धीरे-धीरे मीडिया जगत में गेटकीपिंग के नाम से जाना जाने लगा। भारतीय संदर्भ में समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और न्यूज़ चैनलों में यह काम सम्पादक द्वारा किया जाता है। किसी भी मीडिया संस्थान में सम्पादक ही वह व्यक्ति होता है जिसके ऊपर समाचार के चयन से लेकर उसकी विषय-वस्तु के निर्धारण की ज़िम्मेदारी होती है। सम्पादक किसी भी समाचार पत्र और पत्रिका का ऐसा नियंत्रक माना जाता है जो समाचार के चयन के साथ-साथ इस बात का भी निर्णय करता है कि समाचार-पत्र का ले-आउट और डिज़ाइन क्या होगी। यह उत्तरदायित्व एक सुरक्षाकर्मी जैसा ही है जिसे हर समय खयाल रखना पड़ता है कि कोई ऐसी सामग्री समाचार-पत्र अथवा पत्रिका में न चली जाए जिसका नकारात्मक प्रभाव समाज पर पड़े। साथ ही एक कुशल सम्पादक के लिए इससे जुड़े क़ानून के सभी पक्षों से भी अवगत होना आवश्यक है।

गेटकीपिंग की प्रक्रिया कई बातों पर निर्भर करती है। सम्पादक किसी समाचार को चुनने से पहले देखता है कि उस समाचार की मूल्यवत्ता कितनी है। फिर वह सुनिश्चित करने की कोशिश करता है कि उस समाचार का स्रोत क्या है। एक बार स्रोत का पता चल जाने पर यह देखा जाता है कि जनता इसके बारे में कितनी जागरूक है। जनता के विचारों का आकलन करने के बाद उस समाचार के प्रकाशन के सम्भावित नतीजों की समीक्षा की जाती है।

कुछ वर्ष पहले की बात है जब ओडीशा में हिंदुत्ववादी शक्तियों द्वारा किये गये एक जघन्य काण्ड में

क्रिश्चियन मिशनरी ग्राहम स्टेन और उनके दो बेटों को आग में जिंदा जला दिया गया था। उस समय भारतीय मीडिया के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय मीडिया ने इस तरह की खबरें प्रकाशित की थीं जिनसे लगता था कि भारत में ईसाइयों को उत्पीड़ित किया जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय ईसाई समूहों ने इसकी जाँच की माँग कर डाली। इस तरह की रिपोर्टिंग की सईद नकवी जैसे पत्रकारों ने निंदा की। उन्होंने *न्यूयॉर्क टाइम्स* के शीर्षक का हवाला दिया। इस अखबार में शीर्षक छपा था कि मिशनरी को मारने वाला संदिग्ध हिंदू गिरफ्तार। आलोचकों का कहना था कि यदि भारत में कोई घटना घट जाएगी तो क्या आप यह लिखेंगे कि हिंदू की हत्या में शामिल संदिग्ध मुसलमान गिरफ्तार अथवा मुसलमान की हत्या में शामिल संदिग्ध ईसाई गिरफ्तार। आलोचकों ने *न्यूयॉर्क टाइम्स* के जाने-माने पत्रकार डेविड हलबर्टस्टाम को इसके लिए पत्र भी लिखा। ज़ाहिर है जिसका जबाब उन्हें नहीं मिला। एक पाठक ने प्रतिक्रिया लिखते हुए कहा कि कैसे एक शीर्षक पत्रकारिता के सारे सिद्धांतों की हवा निकालते हुए जनमत बनाने की भूमिका निभा सकता है।

गेटकीपिंग से संबंधित अनुसंधान पर पिछले कुछ दिनों से सवालिया निशान भी लगाये जाने लगे हैं। आलोचकों का कहना है कि यह पूरी अवधारणा काफ़ी कुछ सरलीकृत है। इसके दो कारण बताये गये हैं। पहला, गेटकीपर के लिए आज तक ऐसे कोई मानक (न सुनिश्चित, न लचीले) तैयार नहीं किये जा सके हैं जिनके आधार पर वह किसी समाचार को प्रकाशन के लिए हरी झंडी दे सके या उसे रोक सके। दूसरे, गेटकीपिंग का विचार समाचार के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया की सही तस्वीर पेश नहीं करता। मसलन, गेटकीपिंग से लगता है कि समाचार कहीं मौजूद जिसे गेटकीपर (चाहे वह सम्पादक हो या कोई और) फ़िल्टर कर रहा है। वस्तु-स्थिति यह होती है कि समाचार संवाददाता, स्रोत, उप-सम्पादक, सम्पादक, अखबार के मालिक और उसके पाठकों के साथ एक तरह की जटिल अन्योन्यक्रिया के माध्यम से रचा जाता है। उसके रचे जाने के संदर्भ सामाजिक-आर्थिक होते हैं। समाचार अपने लिखे जाने और छपने के लिए महज़ संवाददाता और गेटकीपर के द्विभाजन पर निर्भर नहीं करता।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. डेविड मानिंग व्हाइट (1950), 'द 'गेट कीपर' : अ केस स्टडी इन द सलेक्शन ऑफ़ न्यूज़', डी. बर्कोविट्ज़ (सम्पा.), *सोशल मीनिंग्ज़ ऑफ़ द न्यूज़ : अ रीडर*, सेज, थाउज़ेंड ओक्स, सीए.
2. डब्ल्यू. गीबर (1964), 'न्यूज़ इज़ व्हाट न्यूज़पेपरमेन मेक इट', एल.ए. डेक्स्टर और डी मैनिंग (सम्पा.), *पीपुल, सोसाइटी ऐंड मास कम्युनिकेशंस*, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. पामेला जे.शूमाकर और टिम पी. बोस (2009), *गेटकीपिंग थियरी*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.

— संजय सिंह बघेल

गैर-कांग्रेसवाद

(Non-Congressism)

कांग्रेस का राजनीतिक वर्चस्व तोड़ने के लिए विचारधारात्मक मतभेदों को नज़रअंदाज़ करके विपक्षी दलों का मोर्चा बनाने की रणनीति को गैर-कांग्रेसवाद के नाम से जाना जाता है। हालाँकि साठ के दशक में इसका विकास और सूत्रीकरण समाजवादी नेता और चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया ने महज़ तीन साल के लिए किये जाने वाले प्रयोग के तौर पर किया था, लेकिन भारतीय दलीय प्रणाली को एक पार्टी के दबदबे से छुटकारा दिला कर कहीं बेहतर राजनीतिक होड़ के दायरे में ले जाने वाली इस रणनीति का असर नब्बे के दशक तक रहा। गैर-कांग्रेसवाद से ही आगे चल कर पार्टी-गठजोड़ की राजनीति का प्रतिमान विकसित हुआ। एक रणनीति के तौर पर गैर-कांग्रेसवाद मुख्यतः चार चरणों से गुज़रा। पहला दौर 1962 के आम चुनाव से शुरू हो कर 1968 में डॉ. लोहिया के देहांत तक चला। इस अवधि में विभिन्न कारणों से कांग्रेस का चुनावी दबदबा पहली बार टूटा। दूसरे दौर में गैर-कांग्रेसवाद के ज़रिये उत्तर भारत में चरण सिंह का नेतृत्व उभरा और क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियाँ मज़बूत हुईं। तीसरा दौर 1974 से 1980 तक चला जिसके केंद्र में जय प्रकाश नारायण की शिखिसयत और विपक्षी दलों का आपस में विलय करके कांग्रेस के विकल्प की तरह एक राष्ट्रीय पार्टी गठित करने की कोशिशें थीं। चौथा दौर 1989 के चुनाव में कांग्रेस के पराभव से शुरू हो कर नब्बे के दशक के मध्य तक जारी रहा। हालाँकि शुरू में गैर-कांग्रेसवाद पर समाजवादी राजनीति की छाप थी, पर उसकी अंतिम राजनीतिक अभिव्यक्ति का लाभ भारतीय जनता पार्टी को हुआ जब क्षेत्रीय शक्तियों के सहयोग से उसे केंद्र में अपनी सरकार बनाने में कामयाबी मिली।

गैर-कांग्रेसवाद की पृष्ठभूमि समझने के लिए साठ के



मधु लिमये (1922-1995)

दशक के राष्ट्रीय हालात पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। इस दौरान 1962 और 1967 में दो आम चुनाव हुए जिनके बीच के पाँच सालों में अर्थव्यवस्था की हुलिया बहुत ख़राब रही। 1962 में चीन और 1965 में पाकिस्तान से हुए युद्धों के कारण जान-माल की काफ़ी क्षति हुई। खाद्यान्न की कमी और बढ़ती कीमतों के कारण कई राज्यों में तक्ररीबन अकाल के हालात पैदा हो गये। क़ानून और व्यवस्था की बुरी हालत में लगातार राजनीतिक आंदोलनों, बंद, हड़तालों, घेराव के कारण और इज़ाफ़ा हुआ। यही वह दौर था जब जवाहरलाल नेहरू का देहांत हुआ और उत्तर-नेहरू कांग्रेस अपने भीतरी मतभेदों के कारण पहले जैसी पार्टी नहीं रह गयी। न ही कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व की साख़ पहले जैसी रह पायी। जे.बी. कृपलानी, सी.डी. देशमुख, सी. राजगोपालाचारी और कृष्ण मेनन जैसे नेताओं ने स्थायी रूप से कांग्रेस छोड़ दी। मुसलमानों, सिक्खों और ईसाइयों जैसे अल्पसंख्यक समुदायों का पार्टी से मोहभंग होने लगा। गुजरात के क्षत्रिय, राजस्थान के जाट, हरियाणा-उप्र-बिहार के यादव कांग्रेस से निराश होने लगे। दलीय प्रणाली के अध्येता के तौर पर रजनी कोठारी ने इस दौर को कांग्रेस 'प्रणाली' के कमज़ोर होने की अवधि क़रार दिया है। कोठारी ने दिखाया है कि 1957 के आम चुनाव तक विपक्षी दलों को लगता था कि उनमें कांग्रेस को सत्ता से उखाड़ देने की शक्ति है, लेकिन जब कांग्रेस ने अपने शासन की तमाम कमियों के बावजूद 1962 के चुनाव में भी भारी कामयाबी हासिल की तो 'एकला चलो रे' की नीति पर यक़ीन करने वाली ग़ैर-कांग्रेस पार्टियाँ विपक्षी एकता के बारे में सोचने

के लिए मजबूर हुईं।

समाजवादी नेता डॉ. लोहिया इससे पहले खुद भी पार्टियों का मोर्चा बनाने के खिलाफ़ थे। लेकिन 1962 के बाद उन्होंने कांग्रेस विरोधी वोट बँटने से रोकने की रणनीति तैयार की। कांग्रेस का वर्चस्व ज़रूर था, पर उसके पास देश के सभी राज्यों में सत्ता की इजारेदारी नहीं थी। 1952 में भी कांग्रेस को मद्रास, पेप्पू, ओडीशा और ट्रावणकोर-कोचीन में बहुमत नहीं मिल पाया था। डॉ. लोहिया के सामने स्पष्ट था कि विपक्ष की संयुक्त ताक़त से कांग्रेस को हराया जा सकता है, लेकिन इसके लिए बहुदलीय होड़ का विन्यास बदलना होगा। 1963 के चार लोकसभा उपचुनावों में यह रणनीति आजमायी गयी। उत्तर प्रदेश की तीन (फ़रुखाबाद, जौनपुर, अमरोहा) और गुजरात (राजकोट) की एक सीट पर हुए इन चुनावों में लोहिया के साथ जनसंघ के दीनदयाल उपाध्याय, स्वतंत्र पार्टी के मीनू मसानी और वरिष्ठ नेता आचार्य कृपलानी लड़े। इन चुनावों में विचारधारात्मक मतभेदों को ठंडे बस्ते में डाल कर विपक्ष ने सिर्फ़ कांग्रेस को निशाना बनाया। कांग्रेस विरोधी वोट न बँटने के कारण तीन सीटों पर जीत हासिल हुई। दूसरी तरफ़ संसद और विधान सभाओं के भीतर भी विपक्ष एकजुट हो कर कांग्रेस सरकारों का सामना करने लगा। नेहरू की सरकार के खिलाफ़ पहला अविश्वास प्रस्ताव संयुक्त विपक्ष ही लाया।

इस कामयाबी को एक सुचिंतित राजनीतिक लाइन का रूप देने के लिए लोहिया को अपनी ही पार्टी और समाजवादी आंदोलन के भीतर और बाहर काफ़ी संघर्ष करना पड़ा। पार्टी के भीतर मधु लिमये और जॉर्ज फ़र्नांडीज़ जैसे नेता विचारधाराओं को पीछे करके पार्टियों की ग़ैर-कांग्रेसी एकता को सत्तालोलुपता और अवसरवाद के ख़तरे से ग्रस्त बता रहे थे। लोहिया के पास इन तर्कों का कोई उत्तर नहीं था। लेकिन काफ़ी जद्दोज़हद के बाद उन्होंने तीन साल तक प्रयोग के तौर पर आजमाने के लिए ग़ैर-कांग्रेसवाद को नीतिगत आयाम देने का अपना आग्रह मनवा लिया। हालाँकि कम्युनिस्ट पार्टियाँ ग़ैर-कांग्रेसवाद की लाइन के नज़दीक आ रही थीं, पर विभिन्न मुद्दों पर लोहिया के जनसंघ के साथ मतभेद जारी थे जिसके कारण फूलपुर, सहरसा और मुंगेर के उपचुनावों में विपक्षी एकता नहीं हो पायी। कांग्रेस दो जगहों पर जीत गयी। 1965 के संघर्षों और आपसी विचार-विमर्शों में जनसंघ ने भागीदारी नहीं की। 1967 के चौथे आम चुनाव की पूर्व संध्या पर लोहिया ने कांग्रेस के समर्थन में भारी गिरावट की भविष्यवाणी की। उन्हें यक़ीन था कि हिंदी प्रदेशों में कांग्रेस को मुँह की खानी पड़ेगी। वही हुआ जो उन्होंने कहा था। केंद्र में कांग्रेस को मामूली बहुमत मिला और आठ राज्यों (देश की कुल आबादी का दो-तिहाई) में वह जीत हासिल

नहीं कर पायी। केरल, तमिलनाडु और ओडीशा में चुनाव-पूर्व गठजोड़ों ने उसे करारी शिकस्त दी। राजस्थान, पंजाब, उप्र और बिहार में वह सबसे बड़े दल के रूप में उभरी लेकिन निर्दलीय सदस्यों की बहुतायत ने इन राज्यों की स्थिति अस्थिर कर दी। पहले छह राज्यों में ग़ैर-कांग्रेस सरकारें बनीं और फिर हरियाणा, उप्र और मप्र में हुए भारी दल-बदल के कारण कांग्रेस सरकारें गिर गयीं।

कुल मिला कर दस राज्यों में कांग्रेस अपदस्थ हुई और संयुक्त विधायक दलों की सरकारें बनीं। पॉल ब्रास ने ग़ैर-कांग्रेसवाद के पीछे चार प्रमुख कारण गिनाये हैं : वोटों के बीच कांग्रेस की साख़ गिरने के कारण ऐसे गठजोड़ों की लोकप्रिय माँग, पार्टियों द्वारा न्यूनतम साझा कार्यक्रम बनाने की क्षमता का प्रदर्शन, पार्टियों का विचारधारात्मक के बजाय परिणामवादी और समायोजनकारी रवैया और क्षेत्रीय परिस्थितियों को पहचान कर उनकी ज़रूरतों के मुताबिक राजनीति करने की कोशिश। डॉ. लोहिया ने अपनी रणनीति के ज़रिये कांग्रेस का वर्चस्व ज़रूर तोड़ दिया, पर जनोन्मुख शासन की उनकी अपनी कसौटियों पर संविद सरकारें खरी नहीं उतर पायी।

1969 में हुए मिनी आम चुनावों में कांग्रेस ने अपनी हालत कुछ सुधारी और ग़ैर-कांग्रेसवाद के पैरोकार समाजवादियों को धक्का लगा। इससे साल भर पहले लोहिया के देहांत के बाद लाल झंडे के तले विकसित पिछड़े वर्ग का जनाधार धीरे-धीरे चरण सिंह द्वारा खड़े किये गये भारतीय क्रांति दल में चला गया। मधु लिमये, रामसेवक यादव और कर्पूरी ठाकुर जैसे नेताओं ने भी उनका नेतृत्व स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप चरण सिंह उत्तर भारत के सबसे बड़े ग़ैर-कांग्रेसी नेता के रूप में उभरे। तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कषगम, पंजाब में अकाली दल, केरल में मुसलिम लीग, महाराष्ट्र में शिव सेना, पश्चिम बंगाल में बांग्ला कांग्रेस, आंध्र में तेलंगाना प्रजा समिति, ओडीशा में उत्कल कांग्रेस और उप्र-बिहार में भाक्रांद का क्षेत्रीय ताकतों के रूप में उभार हुआ। पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्टों की अगुआयी में, तमिलनाडु में द्रमुक के रूप में, पंजाब में अकाली-जनसंघ गठजोड़ के रूप में, केरल में कम्युनिस्ट अगुआयी वाले मोर्चे की शकल में और उप्र-बिहार में भाक्रांद के नेतृत्व वाली मिली-जुली ताकतें कांग्रेस को चुनौती देती नज़र आयीं।

ग़ैर-कांग्रेसवाद का तीसरा दौर उस समय शुरू हुआ जब 1971 के मध्यावधि आम चुनाव में 'ग़रीबी हटाओ' के नारे पर ज़बरदस्त जीत हासिल करने के बाद इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस आर्थिक पुनर्निर्माण के अपने वायदे को पूरा नहीं कर पायी। लोकलुभावन वायदों ने जनता की कामनाओं को बढ़ा दिया, पर उनकी भरपाई नहीं हुई। जनता का मूड बिगड़ा जिसका नतीजा आंदोलनकारी गतिविधियों के बढ़ने में निकला। सरकार ने दमन किया, अर्धसैनिक बलों का

इस्तेमाल बढ़ गया, सामान्य दफ़ाओं की जगह डीआईआर और मीसा जैसे क्रानून लगाये जाने लगे। गुजरात और बिहार में तो अर्धसैनिक बलों की बर्बर भूमिका ने माहौल को एकदम सरकार के खिलाफ़ कर दिया। इस परिस्थिति के गर्भ से 1974 का सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन निकला जो दलीय प्रणाली की रोशनी में देखने पर एक ग़ैर-कांग्रेसी आंदोलन था। इसके शीर्ष पर जय प्रकाश नारायण थे। इसका नतीजा आपातकाल और फिर 1977 के ऐतिहासिक चुनाव में ग़ैर-कम्युनिस्ट विपक्षी ताकतों को मिला कर बनायी गयी जनता पार्टी के हाथों कांग्रेस की भीषण पराजय में निकला।

1980 में कांग्रेस की फिर से वापिसी हुई। लेकिन उस समय तक क्षेत्रीय ताकतें बहुत ताक़तवर हो चुकी थीं। उन्होंने जगह-जगह विपक्षी गोष्ठियाँ करके ग़ैर-कांग्रेसवाद की अलख जगाये रखी। देश का ऐसा कोई राज्य नहीं था जहाँ कांग्रेस को कड़ी चुनौती न मिल रही हो। 1989 तक आंतकवाद को रोकने में नाकाम होने के साथ-साथ रक्षा सौदों में भ्रष्टाचार के सवाल पर बदनाम हो कर कांग्रेस वोट के मोर्चे पर एक बार फिर पराजित हुई। नतीजा कांग्रेस के असंतुष्टों और विपक्षी दलों की मिली-जुली सरकार में निकला। यहाँ ग़ैर-कांग्रेसवाद में कांग्रेस से निकले हुए असंतुष्टों की भूमिका को रेखांकित करना आवश्यक है। 1967 में यही भूमिका चरण सिंह वग़ैरह ने निभायी थी। 1977 में जगजीवन राम और हेमवती नंदन बहुगुणा ने कांग्रेस छोड़ कर विपक्ष का साथ दिया था। और 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह और अरुण नेहरू वग़ैरह का किरदार ऐसा ही था। इसके बाद केंद्र में अल्पमतीय सरकारों का लम्बा दौर चला जिसकी परिणति आख़िर में भाजपा के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ की सरकार बनने में हुई।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', ग़ैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन।

संदर्भ

1. मधु लिमये (1988), *बर्थ ऑफ़ नॉनकांग्रेसिज़म*, वीआर पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, अभय कुमार दुबे (हिंदी प्रस्तुति और सम्पादन), सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
3. बी.एल. माहेश्वरी (1970), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ कोआलिशन : ट्रेड्स फ़ॉर द सेविंटीज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*.
वार्षिकांक : द सेविंटीज़, जनवरी.

4. नॉर्मन डी. पामर (1967), 'इंडियाज़ फ़ोर्थ जनरल इलेक्शन', *एशियन सर्वे*, खण्ड 7, अंक 5.

— अभय कुमार दुबे

गैर-दलीय राजनीति

(Non-party Politics)

गैर-दलीय राजनीति की संज्ञा का प्रयोग आम तौर पर उन सामाजिक आंदोलनों, मानवाधिकार संगठनों तथा स्वैच्छिक संगठनों के संदर्भ में किया जाता है जो ज़मीनी स्तर पर मानव अधिकार एवं पर्यावरणीय मुद्दों के साथ-साथ शोषितों-वंचितों की समस्याओं की राजनीतिक अभिव्यक्ति बने हुए हैं। गैर-दलीय राजनीति की संकल्पना अस्सी के दशक में सामने आई। इसी दौरान कई तरह के जनांदोलन उभरे जिन्होंने आम जनता के हितों की रोशनी में स्थापित राजनीतिक प्रक्रिया की खामियों को उजागर किया। साथ ही कई संगठनों ने औपचारिक राजनीतिक संरचनाओं के बाहर न केवल सार्वजनिक नीतियों के ऊपर आम लोगों के बीच बहस का माहौल बनाया, बल्कि कई तरह के संरचनात्मक काम भी अपने हाथ में लिए। इस प्रकार गैर-दलीय संकल्पना औपचारिक राजनीति की कमजोरियाँ उजागर करने वाले आंदोलनों और संरचनात्मक कामों में जुटे संगठनों के संदर्भ में प्रयुक्त हुई। एक बड़ी सैद्धांतिक परियोजना के तहत रजनी कोठारी, धीरूभाई शेट एवं हर्ष सेठी ने गैर-दलीय राजनीति की संकल्पना को संस्थानिक राजनीति के विकल्प के रूप में देखा।

गैर-दलीय दृष्टिकोण के अनुसार संसद, न्यायपालिका, नौकरशाही जैसी महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं की भूमिका में हाल के कुछ वर्षों में काफ़ी गिरावट आयी है। राज्य की संस्था लोककल्याणकारी भूमिका के निष्पादन की क्षमता तेज़ी से खोती जा रही है। राजनीतिक गतिविधि को अंजाम देने वाले महत्वपूर्ण नेटवर्क कमजोर पड़ते जा रहे हैं तथा संस्थानिक अवनति के इस सिलसिले को थामने में भारत के राजनीतिक दल भी पूरी तरह से विफल हो चुके हैं। गैर-दलीय नज़रिया अपने विश्लेषण के लिए चालीस साल पीछे जाता है। उसके मुताबिक सत्तर और अस्सी के दशक के आते-आते भारत में अपनायी गयी स्वातंत्र्योत्तर विकास- नीति में कई प्रकार के दोष दिखाई देने लगे थे। आज़ादी के बीस साल से ज़्यादा गुज़र जाने के बावजूद देश की गरीब एवं शोषित जनता विकास के लाभों से लगभग वंचित ही थी। एक ओर गरीबों एवं शोषितों को

विकास का कोई लाभ नहीं मिल रहा था और दूसरी तरफ़ चुनाव एवं राजनीतिक दल जैसी मुख्य धारा की राजनीति में भी विसंगतियाँ दिखाई दे रही थी।

संसदीय लोकतंत्र में किसी भी समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे राजनीतिक अभिव्यक्ति प्रदान की जाए। यह काम राजनीतिक दलों का माना जाता है। लेकिन संस्थानिक अवनति के इस दौर में राजनीतिक दल भी पूरी तरह से विफल प्रतीत हो रहे थे। जनता की समस्याओं का समाधान करने की बजाय वे चुनाव के समय वोट प्राप्त करने के लिए लोकलुभावनवादी घोषणाओं का सहारा ले रहे थे। पर्यावरण, प्रदूषण, मानवाधिकार, बँधुआ मज़दूरी, महिलाओं एवं बच्चों के अधिकार, विकास-परियोजनाओं द्वारा विस्थापित हुए लोगों की समस्याओं, रिक्शा चालकों, सड़क के किनारे रेहड़ी लगाने वाले लोगों आदि की समस्याओं से संबंधित मुद्दों में इन संगठनों की दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि चुनाव में वोट प्राप्त करने के दृष्टिकोण से इनकी अधिक अहमियत नहीं थी। इस प्रकार संस्थागत राजनीति के क्षेत्र में विकल्पहीनता की स्थिति दिखाई देने लगी थी। ऐसी परिस्थिति में गरीबों एवं शोषितों की समस्याओं तथा मानव-अधिकार, बाल-अधिकार, महिला-अधिकार, पर्यावरण-सुरक्षा के लिए कई आंदोलन एवं संगठन उभरकर सामने आये। इनमें से कुछ संगठनों ने जहाँ सरकार के साथ मिलकर विकास के लाभ आम जनता तक पहुँचाने का कार्य किया, वहीं कई संगठनों ने इन मुद्दों पर आंदोलन चलाये और उन्हें राजनीतिक अभिव्यक्ति प्रदान की।

संस्थागत राजनीति से अलग हटकर कार्य करने वाले इन्हीं संगठनों एवं आंदोलनों के संदर्भ में गैर-दलीय राजनीति की संकल्पना विकसित करने में दिल्ली स्थित विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) की महती भूमिका रही। रजनी कोठारी बताते हैं कि आपातकाल के पश्चात राजनीतिक दलों के ख़ाके पर आधारित व्यवस्था के विकल्प की तलाश के लिए अनेक प्रयोग किये गये। इन्हीं में से एक प्रयोग के रूप में 'एजेंडा फ़ॉर इण्डिया इनिशिएटिव' भी था जिसके अंतर्गत दलीय एवं संसदीय व्यवस्था में कार्य कर चुके बुद्धिजीवी, पत्रकार एवं दूसरे अन्य नेतृत्वकर्ता किसी विषय पर परिचर्चा करते थे और उन विचारों को 'सेमिनार' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया जाता था। लेकिन, यह प्रयास विफल हो गया। इसके बाद 1980 में रजनी कोठारी, धीरूभाई शेट एवं कुछ अन्य लोगों ने मिलकर सीएसडीएस में 'लोकायन' की स्थापना की एवं एक परामर्शकारी समूह संगठित किया। इसका मक़सद शिक्षाविदों, विभिन्न संघर्षों से जुड़े ज़मीनी कार्यकर्ताओं एवं नीति-निर्माताओं के बीच संवाद स्थापित करना था। इस संकल्पनात्मक विचार-विमर्श ने भारत में चलने वाली राजनीतिक बहस में एक नवीन

आयाम जोड़ा। यहीं से रजनी कोठारी और धीरूभाई शेट के चिंतन में गैर-दलीय राजनीति के विचार ने एक व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण किया।

गैर-दलीय राजनीति की अवधारणा मुख्य रूप से गाँधी, मानवेंद्र नाथ राय एवं जयप्रकाश नारायण के विचारों से प्रेरित है। गाँधी ने लोकतंत्र के सहभागी स्वरूप पर बल देते हुए सामुद्रिक-वृत् एवं ग्राम-स्वराज का खाका प्रस्तुत किया था। गाँधी की भाँति ही मानवेंद्र नाथ राय ने भी एक भिन्न वैचारिक संदर्भ के तहत लोकतंत्र के प्रातिनिधिक स्वरूप की आलोचना प्रस्तुत की थी। लेकिन आजादी के बाद मुख्यधारा के राजनीतिक विमर्श ने इन आदर्शों को अव्यावहारिक मानते हुए ठुकरा दिया। आजाद भारत में सहभागी लोकतंत्र का सर्वाधिक विस्तृत एवं राजनीतिक रूप से प्रभावी प्रस्ताव जयप्रकाश नारायण ने प्रस्तुत किया था और गैर-पार्टी लोकतंत्र की संकल्पना विकसित की। सत्तर के दशक में उभरे जेपी आंदोलन से निकली राजनीतिक शक्तियों का नेतृत्व पार्टी-पॉलिटिक्स के हाथ में चले जाने तथा 1977 में जनता पार्टी की जीत ने स्थिति बदल दी। आमूलचूल बदलाव हेतु जेपी का नव-गाँधीवादी रास्ता अपनी धार खो बैठा। हालाँकि जेपी आंदोलन काफ़ी कमजोर एवं धुँधला हो चुका है फिर भी इसने देश के विभिन्न हिस्सों में अनेक ज़मीनी आंदोलनों एवं संगठनों को जन्म दिया है जो राज्य की औपचारिक संरचना के बाहर रह कर गरीब एवं शोषित जनता की समस्याएँ उठा रहे हैं।

इन आंदोलनों की खास बात यह है कि ये परम्परागत आंदोलनों की तरह किसी सत्ता के लिए संघर्ष नहीं कर रहे हैं, बल्कि इन्होंने कुछ नवीन क्रिस्म के मुद्दों जैसे पर्यावरण, मानवाधिकार, महिला अधिकार, समलैंगिकों के अधिकार, आदिवासियों के अधिकार, दलितों पर अत्याचार के खिलाफ़ आवाज़, विकास परियोजनाओं से विस्थापन के प्रतिरोध, जन-स्वास्थ्य, कुपोषण, वन एवं सामुदायिक संसाधनों पर अधिकार आदि से संबंधित मुद्दों को उठाया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये संगठन उन्हीं मुद्दों को उठा रहे हैं जिन्हें पूरा करना राज्य का कर्तव्य है। मसलन इनके अधिकांश मुद्दे संविधान में वर्णित नीति-निर्देशक तत्त्वों से ही संबंधित होते हैं। रजनी कोठारी के अनुसार वामपंथ की मुख्यधारा से अलग काम कर रहे वाम संगठनों द्वारा चलाये जा रहे आंदोलन, पर्यावरण के संरक्षण से संबंधित चिपको आंदोलन, छत्तीसगढ़ के खनिकों का संघर्ष, आंध्र के रैयत कुली संघों का आंदोलन, ग्रेनाइट के खनन और निर्यात के खिलाफ़ कर्नाटक के कनकपुरा में किसानों का सत्याग्रह और आदिवासियों के संघर्ष जैसे अनेक संगठन एवं आंदोलन हैं जिन्हें गैर-दलीय राजनीति के खाके में रखा जा सकता है। ये तमाम लड़ाइयाँ आर्थिक एवं राजनीतिक माँगों तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि पारिस्थितिकीय, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक

प्रश्नों को भी अपने दायरे में समेट लेती हैं।

विवाद और आलोचना : इन आंदोलनों के साथ कुछ ऐसी समस्याएँ भी देखी गयी हैं जिसकी वजह से गैर-दलीय राजनीति की संकल्पना अपने आविर्भाव के समय से ही विवादों का सामना कर रही है। सबसे पहले तो वामपंथियों की आलोचनाएँ हैं जिनकी मुख्य आपत्ति इस राजनीति को मिलने वाले धन को लेकर है। मार्क्सवादी नेता प्रकाश करात ने कई संगठनों को मिलने वाले धन को लेकर आक्षेप लगाये हैं। उनके अनुसार गैर-दलीय राजनीति समाज के शोषित एवं वंचित लोगों को क्षणिक सुविधाएँ दिला कर उनके असंतोष को कम कर देती है जिसके कारण गरीब जनता क्रांति के मार्ग से विमुख हो जाती है। करात के मुताबिक यह साम्राज्यवादी देशों द्वारा गरीबों को गुमराह करने का ही प्रयास है। इसके साथ दूसरी समस्या राजनीतिक दलों के साथ इसके संबंधों को लेकर उत्पन्न होती है।

किशन पटनायक और योगेंद्र यादव के अनुसार एक लोकतांत्रिक शासन में किसी भी समस्या का समाधान करने के लिए उसका राजनीतीकरण आवश्यक होता है। यह कार्य चुनावी राजनीति एवं राजनीतिक दलों के द्वारा ही किया जा सकता है। अतः यह भी एक गम्भीर सवाल है कि गैर-दलीय राजनीतिक संरचनाएँ राजनीतिक दलों के साथ किस प्रकार संबंध स्थापित करे। तीसरी समस्या यह है कि ये आंदोलन छोटे-छोटे स्थानीय क्रिस्म के मुद्दों पर आधारित होते हैं। इस वजह से जैसे ही संबंधित माँगें पूरी हो जाती हैं या मुद्दे अप्रासंगिक हो जाते हैं, आंदोलन भी समाप्त हो जाते हैं। इसलिए, इसे और अधिक स्थायी बनाने के लिए एक आंदोलन को दूसरे आंदोलनों से जोड़ने की ज़रूरत है।

जहाँ तक गैर-सरकारी संगठनों को होने वाली फ़ंडिंग की बात है तो इस समस्या की ओर रजनी कोठारी ने भी ध्यान आकर्षित किया है। इसी वजह से उन्होंने पैसा उगाही करने वाले ऐसे संगठनों को गैर-दलीय राजनीति की परिधि से अलग रखकर देखा है।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, धीरूभाई शेट, भूमण्डलीकरण का प्रतिरोध, रजनी कोठारी, विश्व सामाजिक मंच।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2003), 'गैर-पार्टी राजनीतिक प्रक्रिया', संकलित : अभय कुमार दुबे (सं.), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
2. धीरूभाई शेट (2009), 'वैकल्पिक राजनीति के आयाम / ज़मीनी आंदोलनों की परिघटना : नागर समाज में आलोड़न', संकलित : अभय कुमार दुबे (सं.), *सत्ता और समाज : धीरूभाई शेट*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.

3. हर्ष सेठी (1984), 'गुप्स इन अ न्यू पॉलिटिक्स ऑफ़ ट्रांसफ़ॉर्मेशन', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 19, अंक 6.
5. इन्द्रजीत कुमार झा (2007), भारत में गैर-दलीय राजनीतिक प्रक्रिया का परीक्षण, अप्रकाशित एम.फिल शोध-प्रबंध, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय.

—इंद्रजीत कुमार झा

गैर-सरकारी संस्थाएँ

(Non-govermental Organisations)

गैर-सरकारी संस्थाएँ या स्वयंसेवी संगठन या एनजीओ कहे जाने वाले संगठन राजसत्ता का प्रत्यक्ष इस्तेमाल किये बिना नागर समाज के दायरे में सक्रिय रह कर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उल्लेखनीय आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव डालने की भूमिका निभाते हैं। अनिवार्य तौर से सरकारी क्षेत्र के बाहर और हित-आधारित पक्षपोषण के लिए कार्यरत रहने वाली इन संस्थाओं का मकसद मुनाफ़ा कमाना न हो कर स्वयंसेवी भाव से उन क्षेत्रों में वैकासिक पहलकदमियाँ लेना होता है जहाँ राज्य या तो जाना नहीं चाहता या फिर उसकी पहुँच कमजोर होती है। इस लिहाज से एनजीओज़ खुद को सरकारी और कॉर्पोरेट सेक्टरों से अलग थर्ड सेक्टर के रूप में पेश करते हैं। विश्व-बैंक द्वारा दी गयी एक परिभाषा के अनुसार एनजीओज़ उन निजी संगठनों को कहते हैं जो समाज के कमजोर तबकों की तकलीफ़ें कम करने के लिए उन्हें राहत पहुँचाते हैं, ग़रीबों के हितों की वकालत करते हैं, पर्यावरण की रक्षा के लिए आवाज़ बुलंद करते हैं, बुनियादी सामाजिक सेवाएँ मुहैया कराते हैं या सामुदायिक विकास की ज़िम्मेदारी उठाते हैं। राज्य और राजनीति के संस्थागत दायरों से बाहर राष्ट्रेतर पैमाने पर होने वाली गतिविधियों में भी इन संगठनों का हाथ रहता है। इस लिहाज से इन्हें अंतर्राष्ट्रीय/वैश्विक सक्रियता का वाहक भी माना जाता है और दूसरी तरफ़ इन्हें ग्लोबल गवर्नेंस की उदीयमान अवधारणा की प्रमुख अभिव्यक्ति होने की हैसियत भी मिली हुई है।

हालाँकि एनजीओ परिघटना पुरानी है, पर नब्बे के दशक में सोवियत ख़ेमे के ध्वस्त हो जाने के बाद उसे सिविल सोसाइटी एक्टिविज़म के पर्याय के तौर पर देखा जाने लगा है। कई बार एनजीओ गतिविधियाँ सामाजिक आंदोलनों के साथ घुल-मिल जाती हैं, लेकिन सामाजिक आंदोलनों के सिद्धांतकार मानते हैं कि धीरे-धीरे एनजीओ परिघटना और सामाजिक आंदोलन की धारा में फ़र्क़ बढ़ता जा रहा है।

आंदोलन बनाम एनजीओ के द्विभाजन पर आधारित विमर्श के तहत मार्क्सवादी हल्कों में इस परिघटना की कड़ी आलोचनाएँ भी की गयी हैं। यहाँ तक कि इसे साम्राज्यवाद का एजेंट भी बताया गया है। मार्क्सवादी सिद्धांतकारों ने अपनी क्रतारों को चेतावनी दी कि वे स्वयंसेवी कार्य के नाम पर विदेशी पूँजी की मदद और साम्राज्यवादी एजेंडे के लिए काम कर रहे एनजीओज़ / एक्शन गुप्स से सतर्क रहें। विरोधाभास यह है कि पिछले दस-बारह साल से नवउदारतावादी भूमण्डलीकरण के ख़िलाफ़ संघर्ष करने वाले ग्लोबल मंच वर्ल्ड सोशल फ़ोरम में एनजीओज़ जम कर भागीदारी कर रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र ऐसे संगठन को एनजीओ नहीं मानता जो किसी भी क्रिस्म की व्यावसायिक गतिविधियों में संलग्न हो, हिंसा करता हो या उसने हिंसा की वकालत की हो, सरकार में भागीदारी कर रहा हो या किसी सरकार की जगह लेने की कोशिश में लगा हो। चूँकि ये मानक आम तौर पर सर्वस्वीकार्य हैं, इसलिए एनजीओ परिघटना के पैरोकार खुद को अराजनीतिक ख़ाने में रखना पसंद करते हैं। लेकिन राज्य से एनजीओज़ की इस स्वतंत्रता के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि वे राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से एकदम अछूते हैं। दरअसल, कई मक़ामों पर गैर-सरकारी संगठनों और राजनीति के बीच सीधे रिश्ते से भी इनकार नहीं किया जा सकता। कई देशों में लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया में लगी सरकारों ने एनजीओज़ की सीधी मदद ली है। दूसरी ओर सरकारों ने एनजीओज़ की गतिविधियों को विनियमित करने के लिए क़ानून बनाये हैं जिनका उल्लंघन करने पर उन्हें मिलने वाली आर्थिक मदद रोकी जा सकती है। सरकारें ही यह तय करती हैं कि किसी एनजीओ को केवल देशी धन पर ही निर्भर रहना होगा, या वे विदेशी धन ले सकते हैं।

भारत में सत्तारूढ़ संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) ने एक राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् (एनएसी) का गठन किया है जो देश के प्रमुख गैर-सरकारी संस्थाओं और उनके साथ जुड़ी रही हस्तियों से मिल कर बनी है। एनएसी के सुझावों के आधार पर भारत सरकार ने सूचना का अधिकार जैसा दूरगामी प्रभाव वाला क़ानून बनाया है। कुछ देशों में एनजीओज़ चुनावी राजनीति में भी भाग लेते देखे गये हैं। मसलन, चिली में 1992 के स्थानीय चुनावों में पापुलर इकॉनॉमिक ऑर्गनाइज़ेशंस (ओईपी) और स्वयंसेवी संगठनों (ओडीए) की मदद करने के लिए एनजीओज़ मैदान में उतर चुके हैं। बाद में उन्होंने स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में भागीदारी भी की। फिलीपीन में 1991 के लोकल गवर्नमेंट कोड के तहत उन्होंने न केवल स्थानीय संस्थाओं के चुनावों में बल्कि राष्ट्रपति के चुनाव तक में सक्रिय भागीदारी की। एनजीओ और राजनीति के संबंधों का अध्ययन करने वाले

जेराल्ड क्लार्क का मानना है कि एशिया और लातीनी अमेरिका देशों में एनजीओ सेक्टर राजनीतिक गतिविधियों की एक गैर-संस्थागत और छोटी सी दुनिया की तरह काम करती है। समाज के धरातल पर होने वाले बहुत से संघर्ष इस छोटे से संसार में अंतरव्याप्त रहते हैं।

राजनीतिक शब्दावली में एनजीओ शब्द की मौजूदगी 1945 में पहली बार उस समय दर्ज की गयी जब संयुक्त राष्ट्र का चार्टर बना। इस चार्टर के अनुच्छेद 71 में उन संगठनों को एनजीओ हैसियत प्रदान की गयी जो संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक-सामाजिक परिषद् के लिए सलाहकार की भूमिका निभाते थे। 2007 में ऐसे कुल संगठनों की संख्या 3,052 थी। लेकिन, पिछले बीस वर्षों में यह संदर्भ इतना सीमित नहीं रह गया है। एनजीओ परिघटना कहीं विविध और व्यापक हो गयी है। उनकी शिनाख्त विकास के ऐसे एजेंट के रूप में की जाने लगी है जो राज्य और कॉरपोरेट जगत के बीच के स्पेस में सक्रिय रहते हैं। सारी दुनिया में असंख्य एनजीओ सक्रिय हैं। संरचना और गतिविधियों के लिहाज से उन्हें किसी एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अंतर्राष्ट्रीय एनजीओ इंगो कहलाते हैं। इसी तरह व्यावसायिक एनजीओ को बिंगो कहा जाता है। धार्मिक गतिविधियों में लिप्त एनजीओ रिंगो की श्रेणी में आते हैं, और पर्यावरण का मुद्दा उठाने वालों को एंगो कहा जाता है। जो एनजीओ सरकार से पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हैं उन्हें क्वैज़ी ऑटोनॉमस यानी क्वेंगो का नाम दिया गया है। ऐसे भी एनजीओ हैं जो केवल नाम के हैं और पूँजी उगाहने के अलावा कोई काम नहीं करते, इसलिए उन्हें ब्रीफ़केस एनजीओ या बिंगो के नाम से बुलाया जाता है। अपराध जगत और गैरक्रान्ती गतिविधियों को अपनी आड़ में छुपा लेने वाले एनजीओ क्रिंगो कहे जाते हैं।

इस समय पूरी दुनिया एनजीओ नेटवर्कों से आच्छादित है। उनके शीर्ष पर इंगो हैं जिनमें ऑक्सफ़ेम या एक्शन एड जैसे ताकतवर और विशाल संगठन हैं। ये एनजीओ छोटे-छोटे बहुत से एनजीओ को गतिविधियाँ करने के लिए पूँजी मुहैया कराते हैं ताकि उन्हें स्थानीय स्तर पर काम करने वाले पार्टनर मिल सकें। कुल मिला कर प्रत्येक एनजीओ को अपनी फ़ंडिंग देने वाली दानदाता संस्थाओं से अपना एजेंडा स्वीकृत कराना पड़ता है। कई मामलों में फ़ंडिंग एजेंसी ही उन्हें एजेंडा थमाती है।

ट्रांसनेशनल एक्टिविज़म के एजेंट के रूप में एनजीओज़ को देखने की शुरुआत शीत युद्ध ख़त्म होने के बाद हुई। इस प्रक्रिया से निकले विमर्श के दो अंतर्विरोधी पहलू थे। पहला, उदारतावादी लोकतंत्र और बाजारोन्मुख विकास के समर्थकों को लगा कि नागर समाज के अंग के रूप में एनजीओ परिघटना का इस्तेमाल वित्तीय पूँजी के

भूमण्डलीकरण के पक्ष में किया जाना चाहिए। दूसरा, इसके विपरीत लोकतांत्रिक आदर्शवाद में यकीन रखने वालों ने एनजीओज़ को राष्ट्रेतर क्रिस्म के ग्लोबल लोकतांत्रिक एक्टरों के तौर पर परिभाषित करने की कोशिश की। इस दूसरी धारा में सामाजिक आंदोलन के विमर्शकार प्रमुख थे। इस लिहाज से राष्ट्रेतर आंदोलनों की परिघटना को दो दौर में बाँट कर समझने की चेष्टा की गयी है। इसके अनुसार दुनिया के पैमाने पर चलने वाले नारीवादी आंदोलन, युद्ध विरोधी आंदोलन और मानवाधिकार आंदोलन जैसी गतिविधियों के भीतर राष्ट्रेतर प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं। इस दौर में स्थानीय स्तर पर किये जाने वाले संघर्षों में श्रम क्रान्तियों के पालन या उन्हें बेहतर बनाये जाने, पर्यावरण की सुरक्षा के प्रयास किये जाने और मानवाधिकारों को बचाने की कोशिशें करने के प्रयास शामिल थे जिनमें कुछ निश्चित लक्ष्यों और कार्यक्रमों के लिए राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एनजीओज़ ने अगुआ दस्ते की भूमिका निभायी।

इन विमर्शकारों का तर्क है कि दूसरे दौर में इन संघर्षों और उनके साथ जुड़े हुए ट्रांसनेशनल एक्टिविज़म का पैमाना बहुत विशाल हो गया। इन नयी परिस्थिति में इस एक्टिविज़म को स्थानीय स्तर पर होने वाले संघर्षों को चालू रखते हुए ग्लोबल पैमाने पर की जाने वाली नेटवर्किंग के दौर में जाना पड़ा। इस प्रक्रिया में एनजीओज़ के स्थापित नेटवर्कों की गतिविधियाँ निहित होनी ही थीं, लेकिन ट्रांसनेशनल एक्टिविज़म में उनकी अगुआ भूमिका पहले की तरह नहीं रह गयी। नयी ज़रूरतों के मुताबिक़ सामाजिक न्याय का झण्डा बुलंद करते हुए प्रत्यक्ष कार्रवाई करने में यकीन रखने वाले ग्लोबल नेटवर्क उभर आये। एनजीओज़ इस ट्रांसनेशनल नेटवर्क के अहम हिस्से बने रहे, पर प्रतिरोध की मुहिमों और नीति संबंधी प्रभाव डालने वाली पहलक़दमियों की लगाम पहले की तरह उनके हाथ में नहीं रह गयी।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, भूमण्डलीकरण का प्रतिरोध, विश्व सामाजिक मंच।

संदर्भ

- डेविड कोर्टेन (1990), *गैटिंग टू द ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी : वालंटरी एक्शन ऐंड द ग्लोबल एजेंडा*, कुमारियन प्रेस, वेस्ट हार्टफ़ोर्ड, सीटी.
- जेराल्ड क्लार्क (1996), 'नॉन-गवर्नमेंटल ऑर्गनाइज़ेशंस ऐंड पॉलिटिक्स', युनिवर्सिटी ऑफ़ स्वानसी, *पेपर्स इन इंटरनेशनल डिवेलपमेंट*, अंक 20, स्वानसी.
- जेम्स पेत्रास और हेनरी वेल्टमेयर (2001), *ग्लोबलाइज़ेशन अनमास्कड : इम्पीरियलिज़म इन द ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी*, जेड बुक्स, लंदन.
- विश्व बैंक (1995), *वर्किंग विद एनजीओज़ : अ प्रैक्टिकल गाइड टू ऑपरेशनल कॉलेबोरेशन बिटवीन द वर्ल्ड बैंक ऐंड नॉन-*

गवर्नमेंटल ऑर्गनाइजेशंस, ऑपरेशन पॉलिसी डिपार्टमेंट, वाशिंगटन डीसी.

5. एस. टैरो (2005), *द न्यू ट्रांसनेशनल एक्टिविज्म*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

गैर-सरकारी संस्थाएँ, भारत में

(NGOs in India)

भारत में जो दायरा कभी सिर्फ समाज और समुदाय की मदद से समाजोत्थान के लिए काम करता था, वही आज देशी-विदेशी आर्थिक मदद से सक्रिय विशाल एनजीओ सेक्टर में बदल गया है। सरकारी और व्यावसायिक क्षेत्रों के बाहर समाज-सेवा करने वाले स्वयंसेवी संगठनों की आधुनिक परम्परा हमारे यहाँ उन्नीसवीं सदी में ही शुरू हो गयी थी। चाहे चर्च की पहलकदमी से आदिवासियों के बीच कल्याण और सुधार के लिए काम करने वाले संगठन हों, या आधुनिक विचारों से प्रेरित सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए कार्यरत संस्थाएँ हों, यह धारा उपनिवेशवाद के खिलाफ राजनीतिक प्रतिरोध के निरंतर विकसित होते हुए सिलसिले के साथ-साथ और समांतर पनपी। यद्यपि इनमें से अधिकतर संगठन ब्रिटिश शासन को समाज-सुधार के एजेंडे के अनुकूल मानते थे, लेकिन अंग्रेजों को इनके भीतर छिपे फ़ितनागर अंदेशों का एहसास था। इसलिए उन्होंने इस तरह के संगठनों की गतिविधियों को नियमित करने और उन पर निगरानी करने के लिए 1860 में सोसाइटी पंजीकरण क़ानून भी बनाया था जिसका कार्यक्षेत्र प्रारम्भ में केवल बम्बई प्रेसीडेंसी तक सीमित था।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति में गाँधी के क़दम पड़ते ही स्वयंसेवी कार्य के प्रतिमान में तब्दीली आने लगी। गाँधी ने रचनात्मक कार्य को व्यापक राजनीति की अभिव्यक्ति के तौर पर पेश करते हुए जनता को सुधार के लिए महज़ कच्चा माल समझने से इनकार कर दिया। धीरे-धीरे राष्ट्रीय आंदोलन के एक हिस्से के रूप में संगठनों का एक नेटवर्क तैयार हो गया। इन्होंने खादी, ग्रामोद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, दुग्ध-उत्पादन, पशुपालन जैसे क्षेत्रों में सरकारी नीतियों का विरोध करते हुए काम किया। स्त्रियों, निचली जातियों, आदिवासियों और देहाती गरीबों के पक्ष में काम करते-करते इन संगठनों ने सामाजिक कार्यों के भीतर राजनीतिक दृष्टि का समावेश किया जिससे

राजनीति को एक दृढ़ सामाजिक आधार मिला। स्वतंत्रता आंदोलन में हुए एक विचारधारात्मक विभाजन से इस प्रक्रिया को एक बार फिर नया आयाम मिला। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट रुझान वाले संगठनों ने उन मुद्दों को उठाना शुरू किया जिनकी समाज-सुधारक या गाँधीवादी संगठनों ने उपेक्षा की थी। इन लोगों के लिए मुख्य मुद्दा हितों का टकराव और उसके कारण होने वाला गरीबों का शोषण था। आज़ादी के बाद सामाजिक और आर्थिक न्याय का प्रश्न, जन-अधिकार, भूमि सुधार, काश्तकारों के अधिकार, न्यूनतम मज़दूरी का सवाल, बंधुआ और दास प्रथाओं के लिए संघर्ष, वनोपज पर आदिवासियों का अधिकार और झुग्गीवासियों और निराश्रितों के हक़ इन संगठनों के दायरे में आते चले गये। चुनावी राजनीति में व्यस्त राजनीतिक दलों ने इन मुद्दों की जितनी उपेक्षा की, उतना ही स्वयंसेवी संगठनों ने उन्हें अपनाया। स्वयंसेवी सेक्टर की राजनीतिक और सामाजिक भूमिका के सूत्रीकरण में सहभागी लोकतंत्र के विचार ने प्रमुख भूमिका निभायी। लोकतंत्र के प्रचलित प्रातिनिधिक रूप की आलोचना करते हुए विकसित होने वाले इस विचार के पीछे गाँधी और मानवेंद्रनाथ राय थे। आज़ादी के बाद जय प्रकाश नारायण ने न केवल इस विचार-परम्परा को जीवित रखा, बल्कि खुद गाँधी के रास्ते पर चलते हुए जीवन-समर्पित करने का निश्चय किया।

इस वैचारिक बहस और उसके प्रभाव के बावजूद इस हक्रीक़त से इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वतंत्रता के बाद साठ के दशक के अंत तक की अवधि गाँधीवादी संगठनों और उस शैली के स्वयंसेवी कार्य के क्षय की मानी जाती है। इस दौरान धर्म आधारित गतिविधियाँ करने वाले ईसाई और गैर-ईसाई संगठनों ने शैक्षिक, स्वास्थ्य संबंधी और आफ़त-मुसीबत के समय राहत कार्य करके अपनी धाक जमायी। इसी प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय असर के तहत स्वयंसेवी क्षेत्र का एनजीओकरण हुआ। पिछले चालीस साल में स्वयंसेवी संस्थाएँ और एनजीओ एक-दूसरे का पर्याय बन गये हैं। पीआरआईए के एक सर्वेक्षण के अनुसार 2001 में कोई पंद्रह लाख एनजीओज़ भारत में सक्रिय थे। कुछ जानकारों का ख़याल है कि यह संख्या बढ़ी-चढ़ी है, और एनजीओज़ की संख्या दो लाख से ज़्यादा नहीं है। गृह मंत्रालय की रपट के अनुसार 2000-1 में करीब 20,000 एनजीओज़ ने फ़ॉरेन कंट्रीब्यूशन रेगुलेशन एक्ट (एफ़सीआरए) के तहत खुद को रजिस्टर्ड करा रखा था। भूमण्डलीकरण के दौर में भारतीय एनजीओज़ को मिलने वाली विदेशी मदद बढ़ी है। एक आँकड़े के अनुसार 1998-99 से 2000-1 के बीच में यह मदद 34 अरब रुपये से बढ़ कर 45 अरब रुपये हो गयी।

भारत में एनजीओ नज़ारे के अध्येताओं की एक प्रमुख धारा मानती है कि सत्तर के दशक में इंदिरा गाँधी की हकूमत

में अंतर्निहित व्यक्तिवादी और निरंकुश पहलुओं के मुकाबले स्वयंसेवी संगठनों में लोकतंत्र को सघन और विस्तारित करने की सम्भावनाएँ थीं। औपचारिक राजनीतिक दायरे में सक्रिय पार्टियाँ उत्तरोत्तर अभिजनोन्मुख होती जा रही थीं, इसलिए रजनी कोठारी, धीरूभाई शेठ और हर्ष सेठी जैसे विद्वानों ने स्वयंसेवी भावना और सक्रियता को वैकल्पिक राजनीति के रूप में परिभाषित किया। इन विश्लेषकों को लगा कि पार्टियों से जुड़े स्त्री, छात्र, मजदूर और किसान जैसे संगठन राजनीतिक स्वायत्तता के अभाव में कुम्हला जाते हैं, और दूसरी तरफ़ पार्टीगत निष्ठाओं के कारण नागर समाज में विभाजन हो जाता है। इन विद्वानों को लगा कि पर्यावरण, स्त्री-अधिकार, मानवाधिकार और गरीबों के हितों के लिए सक्रिय स्वयंसेवी संगठन नागर समाज के स्वायत्त और जीवंत अंग बन कर इस परिस्थिति को बदल सकते हैं। इंदिरा सरकार एनजीओ गतिविधियों के राजनीतिक पहलुओं से परेशान थी क्योंकि वे उसके खिलाफ़ 1974 से शुरू हुए राष्ट्रव्यापी संघर्ष में भागीदार थे। इसीलिए इस सरकार ने 1976 में एफ़सीआरए जैसा नियंत्रणकारी क़ानून बनाया। वह एनजीओ परिघटना को उस 'विदेशी हाथ' का हिस्सा मानती थी जो उसकी निगाह में चुनी हुई सरकार को अस्थिर करने पर तुला था। 1977 में जब आपातकाल लगाने वाली सरकार बुरी तरह पराजित हो गयी, तो उसका श्रेय एक हद तक एनजीओ गतिविधियों को भी दिया गया।

जनता पार्टी शासन के दौरान राजकीय नीति में ग्रामीण विकास कार्यक्रम के ऐसे कई पहलू और सहभागिता के आयाम जोड़े गये जो एनजीओ गतिविधियों पर आधारित थे। 1980 में सत्ता में वापिसी करने पर इंदिरा गाँधी ने कुदाल आयोग बनाया जिसका उद्देश्य एनजीओ गतिविधियों की जाँच-पड़ताल करना था, क्योंकि वे मानती थीं कि इन संगठनों ने भी उनकी सरकार को तंग किया था। लेकिन, इंदिरा गाँधी के उत्तराधिकारी राजीव गाँधी ने एनजीओ दायरे को अपने एक सम्भावित मित्र की तरह देखा। उन्होंने इसे सरकारी एजेंसियों और निजी क्षेत्र के अलावा तीसरे क्षेत्र के तौर पर राज्य की वैकासिक रणनीति का अंग बनाने की पहल की। अस्सी के दशक में इसी मक़ाम पर भारत के स्वयंसेवी क्षेत्र को एक बहुत बड़े विभाजन का सामना करना पड़ा। यह विभाजन गाँधीवादी-अगाँधीवादी और राजनीतिक-अराजनीतिक लाइन पर था।

इसी दौरान मार्क्सवादी हल्कों की तरफ़ से एनजीओ क्रिस्म की सामाजिक-राजनीतिक कार्रवाई की कड़ी आलोचना की गयी। 1984 में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता प्रकाश करात ने एक लम्बा लेख लिख कर दावा किया कि एक्शन ग्रुप और वालंटरी ऑर्गनाइज़ेशन भारतीय समाज में घुसपैठ करने की साम्राज्यवादी साज़िश का अंग हैं। करात

ने चेतावनी दी कि ये संगठन आदर्शवाद से प्रेरित मध्यवर्गीय युवकों को गुमराह कर देने में सक्षम हैं। हालाँकि उन्होंने ख़ास तौर से विदेशी धन लेने वाले संगठनों को निशाना बनाया, लेकिन उन्होंने एनजीओ दायरे को बौद्धिक समर्थन देने वालों को भी नहीं बख़्शा। विदेशी बुद्धिजीवियों के साथ-साथ भारतीय बुद्धिजीवी भी उनके आक्रमण का निशाना बने। उन्होंने माँग की कि अगर कोई एनजीओ लोगों को किसी राजनीतिक कार्रवाई के लिए गोलबंद करता है तो उसे राजनीतिक दलों के समकक्ष समझा जाना चाहिए, जिन्हें विदेशी फ़ंडिंग लेने की इजाज़त नहीं है।

करात की इस लाइन को बड़े पैमाने पर एनजीओ दायरे में नापसंद किया गया, लेकिन इसका असर गहरा हुआ। पूरा क्षेत्र विदेशी धन लेने और न लेने वाले संगठनों में बँट गया। इस विवाद का दूसरा असर यह हुआ कि एनजीओ बनाम सामाजिक आंदोलन की बहस पहले से कहीं तीखी हो गयी। एनजीओ दायरे को नागर समाज के अराजनीतिक चेहरे की संज्ञा भी दी गयी। यह भी कहा गया कि सार्वजनिक दायरे के एनजीओकरण ने रैडिकल सम्भावनाओं वाले युवजनों को जुझारू संघर्षों में कूदने से रोक दिया, और सरकार की वैकासिक नीति का औज़ार बन कर जनता के बीच अलोकप्रिय होती जा रही राज्य की संस्था को टिके रहने की गुंजाइश प्रदान की। दिलचस्प बात यह है कि करात ने जिन भारतीय बुद्धिजीवियों को साम्राज्यवादी साज़िश का अंग करार दिया था, वे भी नब्बे के दशक में आलोचना लेकर आये कि स्वयंसेवी भावना को आधुनिक राज्य और उसे सहारा देने वाले ग्लोबल सरअंजाम ने जैसे ही वैकासिक हस्तक्षेप के नियोजित औज़ार में सीमित किया, वैसे ही इस क्षेत्र की स्वायत्तता संकटग्रस्त हो गयी। वह अपनी धार खो बैठा जिसके कारण उसे कभी समाज-परिवर्तन का एजेंट माना जाता था। कुल मिला कर इस विवाद के कारण एनजीओ की एक रूढ़ छवि बनी जिसके आईने में उसे विदेशी धन लेने वाले और अराजनीतीकरण के एजेंट की तरह काम करने वाले संगठन के तौर पर देखा जाने लगा।

अस्सी और नब्बे के दशक में होने वाली इन बहसों के बीच एनजीओ सेक्टर का विस्तार होता रहा। वे सामाजिक आंदोलनों और राजनीति के अन्य रूपों के साथ अन्योन्यक्रिया करते रहे। केरल में केरल शास्त्र साहित्य परिषद द्वारा अपनी स्वायत्तता क़ायम रखते हुए वहाँ की माकपा सरकार के साथ मिल कर काम करना और मध्य प्रदेश में दिग्विजय सिंह के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार के साथ एकता परिषद् जैसे गाँधीवादी संगठन का जुड़ाव इसकी प्रमुख मिसाल है। मजदूर किसान शक्ति संगठन पंचायत स्तर पर चुनाव में भागीदारी कर चुका है। जनांदोलनों के राष्ट्रीय गठजोड़ में सक्रिय कई एनजीओ इस बहस में उलझे रहते हैं कि चुनावी राजनीति के

साथ कैसे संवाद स्थापित किया जाए। एनजीओ सेक्टर से निकली शक्तियाँ कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार को मदद देने वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् (एनएसी) में प्रमुख हैसियत रखती हैं। अन्ना हजारे के नेतृत्व में चली बहुचर्चित भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम की अगाऊ पंक्तियों में जो शक्तियाँ हैं, वे भी एनजीओ सेक्टर की ही देन हैं।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-दलीय राजनीति, भूमण्डलीकरण का प्रतिरोध, विश्व सामाजिक मंच।

संदर्भ

1. प्रकाश करत (1988), *फ़ॉरेन फंडिंग ऐंड द फिलॉसफी ऑफ़ वालंटरी ऑर्गनाइजेशंस : अ फैक्टर इन इम्पीरियलिस्ट स्ट्रैटजी*, नेशनल बुक सेंटर, नयी दिल्ली.
2. संगीता कामत (2002), *डिवेलपमेंट हेजेमनी : एनजीओज़ ऐंड द स्टेट इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. राजेश टंडन (1987), *स्टेट ऐंड द वालंटरी एजेंसीज़ इन इण्डिया*, पीआरआईए, नयी दिल्ली.
4. डी.एल. शेट और हर्ष सेठी (1991), 'द एनजीओ सेक्टर इन इण्डिया : हिस्टोरिकल कांटेक्ट ऐंड करेंट डिस्कोर्स', *वाल्चुंटाज़*, खण्ड 2, अंक 2.
5. बंकर रॉय (1988), 'वालंटरी एजेंसीज़ : ट्वेंटी इयर्स फ़ॉम नाव', *मेनस्ट्रीम*, 26.

— अभय कुमार दुबे

गोपनीयता

(Secracy)

सामान्य व्यवहार में गोपनीयता का अर्थ किसी महत्वपूर्ण और उपयोगी सूचना को दूसरों से छिपाना होता है। गोपनीयता के विचार में यह भी अंतर्निहित है कि कुछ तथ्य या सूचनाएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें सार्वजनिक रूप से उद्घाटित नहीं किया जाना चाहिए। एक अर्थ में गोपनीयता व्यक्ति की निजता और स्वायत्तता की भी पूर्व-शर्त कही जा सकती है। लेकिन समाजशास्त्रीय अर्थों में गोपनीयता को संगठन, राजनीतिक दल, व्यावसायिक समूह आदि की रणनीति के अध्ययन के तौर पर देखा जाता है।

गोपनीयता के अध्ययन और विश्लेषण को समाजशास्त्र में एक विषय के तौर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय जर्मन समाजशास्त्री जॉर्ज ज़िमेल को जाता है। ज़िमेल ने अपने विश्लेषण में गोपनीयता और गोपनीय संगठनों के

समाजशास्त्र की विशद पड़ताल की है। उनके अनुसार गोपनीयता की परिघटना का मर्म इस बात में निहित है कि उसमें किसी सूचना को उसके यथातथ्य रूप में पेश न करके पूर्व निर्धारित लक्ष्य की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें एक व्यक्ति भी शामिल हो सकता है और व्यक्तियों का समूह भी। ज़िमेल का मानना है कि गोपनीय संगठन हमेशा निरंकुशतावाद और पुलिस की सत्ता के सहचर बनकर अस्तित्व में आते हैं। और यह बात केवल राजनीतिक संबंधों पर ही नहीं बल्कि धार्मिक संस्थाओं, स्कूल तथा परिवार पर भी लागू होती है। ज़िमेल का यह भी कहना है कि आधुनिक समाज के दबावों और ज़रूरतों से सामंजस्य बिठाने के लिए व्यक्ति को झूठ-प्रपंच और फ़रेब का सहारा लेना पड़ता है। इस तरह गोपनीयता को आधुनिक समाज में जीने की एक रणनीति के रूप में भी देखा जा सकता है।

ज़िमेल ने गोपनीयता के अध्ययन में विश्लेषण के जिन नये सूत्रों का प्रतिपादन किया था उनका प्रभाव आज तक बरकरार है। उदाहरण के लिए उनका यह सूत्र आज भी उतना ही प्रासंगिक है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे से झूठ बोलता है तो दूसरे व्यक्ति को सिर्फ़ धोखा ही नहीं दिया जाता बल्कि वह झूठ बोलने वाले की वास्तविक मंशा के बारे में भी भ्रांति का शिकार होता है। ऐसे भ्रम और मिथ्या धारणाएँ सरल समाजों में तो उतनी खतरनाक नहीं होती लेकिन आधुनिक अर्थव्यवस्था के लेन-देन में, जहाँ सभ्यता की पूरी संरचना ही व्यक्ति और उसकी मंशाओं की पूर्वधारणाओं पर निर्भर करने लगी है, वहाँ मिथ्या धारणाएँ एक अनियंत्रित खेल रच सकती हैं। मसलन, आधुनिक अर्थव्यवस्था में पैसे का लेन-देन और उसके हस्तांतरण के अनेकानेक इलेक्ट्रॉनिक रूप सीधे शासकीय ढाँचे की नाक के नीचे सम्पन्न होते हैं, लेकिन उसे इस बारे में कुछ पता नहीं चलता। यह आधुनिक सामाजिक जीवन का एक अहम, मगर ऐसा पहलू है जिससे ज्यादातर लोग अनभिज्ञ रहते हैं। इक्कीसवीं सदी में आतंकवादी एक देश से दूसरे देश में धन भेजने के लिए इलेक्ट्रॉनिक हस्तांतरण का सहारा लेते हैं। इससे जाहिर है कि आतंकवाद विरोधी कार्रवाई इस दौर में सिर्फ़ ज़मीन पर ही नहीं लड़ी जा रही बल्कि उसका एक मोर्चा वित्तीय गतिविधियों के अमूर्त संसार में भी मौजूद है।

आधुनिक व्यवसाय में जानबूझकर झूठी सूचनाएँ गढ़ना और फैलाना भी एक काम बन गया है। सफ़ेदपोश अपराध के केंद्र में भी गोपनीयता की यह धारणा ही काम करती है। एक तरह से ज़िमेल हमें आधुनिक समाज के जटिल वित्तीय तंत्र और नेटवर्क समाजों की कारगुजारियों के बारे में आगाह करते हैं। अल्प-विकसित और आदिम समाजों में भ्रांत धारणाओं का ऐसा व्यवस्थित संजाल कम देखने को मिलता है।

सत्रहवीं शताब्दी में व्यक्तियों के छोटे समूहों की कार्यकुशलता तथा सांगठनिक लामबंदी के चरित्र का विश्लेषण करते हुए थॉमस हॉब्स ने कहा था कि संकट के समय तो लोग बड़ी संख्या में एकजुट हो जाते हैं लेकिन चुनौती खत्म होते ही लोगबाग फिर फूट, आपसी षडयंत्र और चुगलखोरी में लिप्त होने लगते हैं। हॉब्स का मानना था कि कोई भी सामूहिक गतिविधि एक मजबूत केंद्रीय सत्ता के बिना सफल नहीं हो सकती क्योंकि उसके अभाव में लोगों के व्यक्तिगत अहम को नियंत्रण में रखना मुश्किल बना रहता है। यह देखना दिलचस्प है कि हॉब्स के इस विचार की आहत कोई ढाई सौ साल बाद ज़िमेल के विश्लेषण में भी सुनायी पड़ती है। हॉब्स की तरह ज़िमेल ने भी इस तरफ ध्यान आकर्षित किया था कि किसी कार्य या गतिविधि की गुणवत्ता पर उसमें शामिल लोगों की संख्या का गहरा असर पड़ता है। ज़िमेल के मुताबिक दो लोगों के साथ समूह जैसी कोई संरचना नहीं होती लेकिन जैसे ही उनके साथ तीसरा व्यक्ति आता है तो उनके आपसी व्यवहार का पूरा चरित्र बदल जाता है। असल में तीसरे व्यक्ति के शामिल होते ही एक वास्तविक सामाजिक संरचना अस्तित्व में आने लगती है। ज़िमेल का मानना है कि छोटे समूहों में गोपनीयता को बरकरार रखना मुश्किल होता है क्योंकि उसमें शामिल सभी व्यक्ति एक दूसरे के इतने करीब होते हैं कि वे समूह के गुप्त कार्यक्रम या एजेंडे को बताने का लोभ संवरण नहीं कर पाते, जबकि बड़े समूहों में गोपनीयता को बनाये रखना ज्यादा आसान होता है। परंतु बड़े गोपनीय संगठनों में सूचनाओं के साझीदार सदस्य हमेशा इस तनाव के शिकार रहते हैं कि गोपनीय सूचना या तथ्य उजागर न हो जाए। ऐसा होने पर गोपनीय संगठन का समूचा आधार ही खत्म हो सकता है। गोपनीयता को बरकरार रखने के लिए छोटे और बड़े समूह अलग अलग तरह की रणनीति आजमाते हैं। इस मामले में गोपनीयता को सफल बनाने के लिए एक सामाजिक संरचना खुद ब खुद अस्तित्व में आ जाती है। गौर से देखें तो असल में समाजशास्त्री इसी क्षेत्र का अध्ययन करते हैं। ज़िमेल ने अपने अध्ययन में इस बात पर भी विचार किया है कि गोपनीय संगठन अपने आकार और नेतृत्व को छिपाने के लिए सूचनाओं और नियंत्रण की व्यवस्था का किस तरह इस्तेमाल करते हैं।

सामाजिक विज्ञानों, खास तौर पर अर्थशास्त्र में यह एक जमा जमाया सिद्धांत माना जाता है कि गोपनीयता के कुछ ऐसे निश्चित प्रकार हैं जिन्हें बनाये रखने का खर्च और मुश्किलें सदस्यों की संख्या में होने वाली वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है। ज़िमेल इसे बड़े समूहों की प्रारूपिक समस्या मानते थे। व्यवसाय के क्षेत्र में क्रीमतों को मनमाने ढंग से तय करने या उत्पादन घटाकर कर बाज़ार पर एकाधिकार स्थापित करने

की गोपनीय चालें कई बार एक आपसी समझौते के तहत ही ध्वस्त की जाती हैं। ऐसे रहस्यों का उद्घाटन तब ज्यादा रफ्तार से होता है जब उसमें कई सारे व्यवसाय एक साथ मिलकर व्यावसायिक रणनीतियाँ तय करते हैं। औद्योगिक संगठनों के अध्ययन से पता चलता है कि पहले से ही क्रीमतें तय करने, षडयंत्र खड़ा करने या ठेके लेने की होड़ में अन्य प्रतिद्वंद्वियों को मात देने के मामले में हमेशा संगठन के अंदरूनी सदस्य ही शामिल पाये जाते हैं। वे अपने संगठन की साख ऐसे रहस्योद्घाटनों से उजागर करते हैं कि उनकी कम्पनी के उत्पादन सूचकांक सही नहीं हैं। इसी तरह पूर्व षडयंत्रकर्ता निजी लाभ उठाने के लिए खुद के बारे में केवल यह घोषणा करते हैं कि वे तो व्यावसायिक समूह विशेष के सदस्य मात्र हैं।

अगर किसी स्थिति में एक व्यक्ति को यह पता चले कि दूसरे सिरे पर मौजूद एक या दो व्यक्तियों को किसी महत्वपूर्ण मसले के बारे में जानकारी है लेकिन वे पहले व्यक्ति से इस बारे में झूठ बोलते रहें तो ऐसे में एक अलग तरह की समस्या पैदा हो जाती है। कुछ विशेषज्ञ इसे ही गोपनीयता की मूलभूत स्थिति कहते हैं। एक विद्वान के मुताबिक गोपनीयता को एक ऐसी स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें एक व्यक्ति किसी बात को छिपाना चाहता है जबकि दूसरा व्यक्ति छिपाने की इस हरकत को उजागर करना चाहता है। यह सच है कि गैर-सार्वजनिक सूचनाओं की जानकारी रखने वाले लोगों को इस बात का पता रहता है कि वे जिन लोगों के साथ काम कर रहे हैं उन्हें भी इस बात का अहसास रहता है कि पहला व्यक्ति उनसे कुछ छिपा रहा है। ऐसे में एक दूसरे को पछाड़ने की चालें चली जाती हैं। अर्थशास्त्र में गेम थिअरी नामक एक उप विषय में सामाजिक व्यवहार के इन रूपों और उसके वास्तविक कोणों का अध्ययन किया जाता है।

जब कोई गोपनीय सूचना कई लोगों की जानकारी में होती है और वे उस पर मौन साधे रहते हैं तो इसे विशेषीकृत हितों की एक सामाजिक परिघटना कहा जा सकता है। एवियातार जेरूबावेल ने इस परिघटना के अध्ययन का सार संक्षेप करते हुए कहा है कि एक समय के बाद ऐसे गोपनीय तथ्यों को छिपाये रखना मुश्किल होता जाता है जिनमें अनेक लोग शामिल हों। मौन के ऐसे किसी षडयंत्र का जब भी रहस्योद्घाटन होता है तो वह उसमें लिप्त लोगों के व्यक्तित्व और उनकी अंतश्चेतना को क्षत-विक्षत कर देता है।

नाज़ी शासन के उदाहरणों से पता चलता है कि यहूदियों के यातना-शिविरों के आसपास रहने वाले जर्मन नागरिकों को इस तथ्य के बारे में पता होता था कि वहाँ क्या चल रहा है लेकिन वे इस बारे में मौन रहते थे। समाजशास्त्री इसे एक ऐसी सामाजिक रीति के उभार की तरह देखते हैं जो

लोगों की संवेदना को यहाँ तक नियंत्रित करने लगी थी कि किस बात पर ध्यान दिया जाए और किस बात को खारिज कर दिया जाए। यह बात बच्चों के यौन शोषण संबंधी मामलों पर भी लागू होती है जहाँ परिवार के सदस्य सब कुछ जानने के बावजूद पीड़ित की यंत्रणा को लेकर आपस में गोपनीयता बनाये रखते हैं।

सामान्य क्रान्तियों में किसी व्यवसाय के भेद या राज को एक ऐसे फार्मूले या प्रक्रिया के तौर पर परिभाषित किया जाता है जो प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में एक व्यवसायी द्वारा दूसरे व्यवसायी को मात देने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। अर्थशास्त्रियों की भाषा में व्यवसाय का यह गोपनीय गुर किसी उद्यमी को अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले ज्यादा लाभ अर्जित करने में सक्षम बनाता है। उद्यमिता के नव-चिंतन में अक्सर गतिशील दक्षता की धारणा का जिक्र किया जाता है। बहुत से उद्यमी और उनके मददगार अपने व्यवसाय से संबंधित सूचनाओं को इस तरह गोपनीय बनाये रखते हैं कि अन्य प्रतिद्वंद्वियों को उनके उत्पादों की भनक न मिल सके और वे अपने उत्पाद को बाजार में सबसे पहले उतार सकें। उन्हें ऐसा करना इसलिए जरूरी लगता है क्योंकि अगर प्रतिद्वंद्वियों को उनके नवाचार के बारे में पता चल जाए तो वे उस उत्पाद की नक़ल तैयार करके उत्पाद के मूल निर्माता का खेल बिगाड़ सकते हैं।

कुछ खास तरह के मामलों में व्यवसाय के गोपनीय गुर का पेटेंट कराया जाता है। इससे उत्पाद के निर्माता को एक निश्चित अवधि के लिए अपने उत्पाद के संबंध में एक तरह का विशेषाधिकार मिल जाता है। लेकिन बाजार में मौजूद हर तरह की सूचनाओं को पेटेंट की सुरक्षा नहीं दी जा सकती या दूसरी तरह कहें तो बाजार की हर सूचना इस लायक नहीं होती कि उसे पेटेंट की सुरक्षा दी जाए। मसलन, मार्केटिंग के तौर-तरीकों, उत्पाद की कीमतें तय करने की रणनीति, ग्राहकों की सूची तथा आपूर्ति की ऐसी शृंखलाएँ जिनके बारे में प्रतिद्वंद्वियों को पता नहीं होता, ऐसे ही पहलू हैं जिन्हें पेटेंट के दायरे से बाहर माना जाता है। ऐसे मामलों में पेटेंट कराने का विकल्प मौजूद नहीं होता। जाहिर है कि ऐसे में गोपनीयता बनाये रखना ही व्यवसायिक सफलता का आधार होता है।

यह एक मिथक ही है कि जादूगर अपनी तरकीब को सार्वजनिक नहीं होने देते या कि वे इन तकनीकों को पर्दे में छिपाये रखते हैं। जादूगर वास्तव में रंगमंच के मनोरंजनकर्ता होते हैं जिनके अपने सभा-संगठन और जर्नल होते हैं। धीरे धीरे उनके अकादमिक योगदान और प्रभाव में वृद्धि भी होती गयी है। ज़िमेल् की धारणा थी कि बड़े संगठनों में दाखिल होने और उसमें शामिल होने के कुछ निश्चित अनुष्ठान होते हैं लेकिन अब यह स्थिति बदल चुकी है। आजकल जादूगर

अक्सर विद्वान होते हैं और अपने इस नये तरह के गुण को अक्सर किताबों, फ़िल्मों और सेमिनारों के माध्यम से जाहिर करते रहते हैं। पेटेंट के विचार में ही यह बात निहित है कि वह एक ऐसी उपयोगी चीज़ है जिसे उजागर करना लाभकारी होता है। ऐसे में यह कल्पना करना मुश्किल है कि कोई जादूगर अपने जादू के रहस्य को पेटेंट कराना चाहेगा। एक विद्वान के मुताबिक़ जादूगर अपने जादू का पेटेंट इसलिए नहीं कराते थे क्योंकि वे अपने रहस्य को खोलना नहीं चाहते थे। इसके उलट बात यह है कि जादूगर जादू के ज़रिये अपने भ्रम की प्रस्तुति पर एकाधिकार करना चाहते थे और उसे क्रान्ती तौर पर सुरक्षित करना चाहते थे ताकि अन्य जादूगरों को उस भ्रम की हू ब हू कृति तैयार करने से रोका जा सके।

उपरोक्त समस्त सूत्रों को एक साथ रखकर विचार किया जाए तो कहना होगा कि ज्यार्ज ज़िमेल् के सूत्रीकरण के बाद गोपनीयता की अवधारणा का राजनीति के अलावा अर्थशास्त्र के दायरों में भी विस्तार हुआ है। उसमें सार्वजनिक जीवन के ऐसे पहलू भी शामिल हैं जिनके बारे में आमतौर पर सोचा नहीं जाता लेकिन आधुनिक जीवन की पूरी संरचना में गोपनीयता एक बड़ी रणनीति की तरह पैबस्त है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एस. बोक (1982), *सीक्रेट्स : ऑन द इथिक्स ऑफ़ कंसीलमेंट एंड रेव्लेशन*, पैथियन बुक्स, न्यूयॉर्क.
2. डब्ल्यू. आई. मिलर (2003), *फ़ेकिंग इट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. जी. रिट्जर (2000), *क्लासिकल सोसियोलॉजिकल थिअरी*, तीसरा संस्करण, मैक्ग्रा-हिल, न्यूयॉर्क.
4. जॉर्ज ज़िमेल् (1906), 'द सोसियोलॉजी ऑफ़ सीक्रेसी एंड ऑफ़ द सीक्रेट सोसाइटीज़', *अमेरिकन जर्नल ऑफ़ सोसियोलॉजी*, खण्ड 11: 441.

— नरेश गोस्वामी

गोपाल कृष्ण गोखले

(Gopal Krishna Gokhale)

भारतीय उदारतावाद के पितामह, समाज-सुधारक, शिक्षाविद् और राजनेता गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915) राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलन की नींव डालने वाली चंद हस्तियों में से एक थे। गोखले ने स्वयं जनांदोलन की राजनीति कभी नहीं की, पर उनके कृतित्व से ही कांग्रेस में वह ज़मीन बनी जिस पर खड़े कर बीस के दशक में गाँधी इस पार्टी को अंग्रेज़ों के खिलाफ़ जनांदोलन में बदल सके। अपनी आत्मकथा में गाँधी ने उन्हें अपने गुरु की संज्ञा दी है। उन्नीसवीं सदी के आखिरी और बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में सक्रिय रहे गोखले को भारतीय राजनीतिक पुनर्जागरण के संदर्भ में जस्टिस रानाडे और गाँधी के बीच की कड़ी माना जाता है। उनके वैचारिक प्रभाव का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके उदारतावाद और सांविधिक राजनीति की पैरोकारी से प्रभावित हो कर मुहम्मद अली जिन्ना तक शुरू में 'मुसलमान गोखले' बनना चाहते थे। गोखले के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ था ब्रिटिश हुकूमत के तहत स्व-शासन का अधिकार, पर इसके लिए भी उनकी शर्त थी कि भारतीय समाज को पहले सुधार की प्रक्रिया के ज़रिये खुद को उसके क़ाबिल बनाना होगा। इसी मक़सद से गोखले ने सर्वेंट ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी *भारत सेवक समाज* की स्थापना की।

कांग्रेस के भीतर गोखले ने तिलक द्वारा दिये गये तुरंत स्वराज प्राप्त करने के रैडिकल कार्यक्रम का विरोध करते हुए नरम दली धड़े का नेतृत्व किया जिसका उद्देश्य किसी भी तरह की आंदोलनकारी कार्रवाई से बचते हुए ब्रिटिश सरकार से सहयोग के ज़रिये क्रमशः राजनीतिक सुधारों की तरफ़ बढ़ना था ताकि भारतीयों को ज़्यादा से ज़्यादा नागरिक अधिकार मिल सकें। अंग्रेज़ों के साथ सहयोग के पैरोकार गोखले को कांग्रेस के भीतर राष्ट्रवादियों की कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा, पर उनकी नरमदली राजनीति और उदारतावाद की सफलता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके प्रतिद्वंद्वी तिलक 1916 में कांग्रेस की सदस्यता दोबारा ग्रहण करते समय बहुत कुछ सांविधिक राजनीति का रास्ता अपनाने की स्थिति में आ चुके थे। 1920 में उन्होंने कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी का जो घोषणापत्र लिखा वह संवैधानिक सुधारों के संदर्भ में गोखले द्वारा अपने पीछे छोड़े गये अंतिम प्रतिज्ञा-पत्र पर बहुत कुछ निर्भर था।

अपने ज़माने के अंग्रेज़ी शिक्षित आधुनिक भारतीय अभिजनों की तरह गोखले का वैचारिक परिप्रेक्ष्य पश्चिमी आधुनिकता से रँगा हुआ था। उनके मानस पर फ्रांसिस बेकन

के निबंधों, एडमण्ड बर्क द्वारा की गयी फ्रांसीसी क्रांति की आलोचना और जॉन स्टुअर्ट मिल के उदारतावाद की गहरी छाप थी। गोखले को कभी नहीं लगा कि राष्ट्र-निर्माण के लिए उन्हें भारत के इतिहास से कुछ मिल सकता है। उनका कहना था कि भारत ने ऐतिहासिक रूप से पश्चिम की भाँति राष्ट्रीय स्वतंत्रता का विचार विकसित ही नहीं किया है। गोखले को आइरिश होम रूल आंदोलन का मॉडल पसंद था। युरोपीय इतिहास के सुसंगत, गतिशील और लोकतांत्रिक क्रम-विकास को देख कर उन्हें लगता था कि पश्चिम के पास भारत को सिखाने के लिए काफ़ी-कुछ है।

ब्रिटिश शासन को भारतीय आधुनिकीकरण की गारंटी मानने वाले गोखले को इस बात का क्षोभ था कि अंग्रेज़ इस देश में प्रतिनिधित्वमूलक संस्थाएँ स्थापित करने में हीला-हवाला कर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने अंग्रेज़ों की आलोचना भी की और कहा कि उनके राज्य में शासन अधिक है और ब्रिटिशपन कम। लेकिन इस आलोचना के बावजूद गोखले को यक़ीन था कि ब्रिटिश राज के तहत भारत एक न एक दिन युरोप के ही किसी स्वतंत्र राष्ट्र की तरह अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बन जाएगा। उन्हें मालूम था कि अंग्रेज़ों के शासन संबंधी तौर-तरीके आपत्तिजनक भी हैं, लेकिन बावजूद इसके वे ब्रिटिश हुकूमरानों को थॉमस मुनरो, मैकाले, हेनरी लॉरेंस और रानी विक्टोरिया की उद्घोषणाओं और 'इंग्लैण्ड की भारत संबंधी शपथों' की याद दिलाते रहते थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं दादाभाई नौरोज़ी और जस्टिस महादेव रानाडे की विरासत के वाहक के तौर पर गोखले ब्रिटिश शासकों से अपील करते थे कि वे भारत में शैक्षिक, धार्मिक, आर्थिक, प्रशासनिक और राजनीतिक सुधारों की रफ़्तार बढ़ाएँ। अंग्रेज़ों की इंसाफ़पसंदी, ईमानदारी और नेक इरादों में विश्वास रखने वाले गोखले ने कई बार इंग्लैण्ड की यात्रा की ताकि ब्रिटिश नागरिकों और सांसदों के सामने भारत का पक्ष पेश किया जा सके। भारत में अपनी राजनीति के लिए उन्होंने बम्बई विधान परिषद, इम्पीरियल कौंसिल और कांग्रेस के मंच का इस्तेमाल किया।

एक उदारतावादी के रूप में गोखले ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पैरोकारी करते हुए 1904 के सरकारी गोपनीयता क़ानून का विरोध किया। इसी आधार पर उन्होंने निजी सम्पत्ति के स्वामित्व, अनुबंध करने की स्वतंत्रता और नागरिक अधिकारों की वकालत करते हुए अंग्रेज़ों से कहा कि वे जब तक भारत में प्रतिनिधित्वमूलक संस्थाओं का विकास नहीं करते तब तक भारत और इंग्लैण्ड के संबंध अच्छे नहीं हो सकते। दूसरी तरफ़ गोखले का उदारतावाद क्लासिकल लिबरलिज़म से कुछ अलग भी था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की तरफ़दारी करते हुए उनका आग्रह आज़ादी का उपभोग ज़िम्मेदारी और आत्म-संयम के साथ करने पर था। उन्होंने सार्विक मताधिकार का समर्थन करने के बजाय



गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915)

सम्पत्ति के स्वामित्व को मताधिकार की शर्त बनाने की माँग की। गोखले धार्मिक अल्पसंख्यकों को विशेष प्रतिनिधित्व देने की माँग के साथ थे। दिलचस्प बात यह है कि निजी सम्पत्ति का समर्थन करने वाले गोखले बाजारवाद के बजाय जस्टिस रानाडे के तर्ज पर अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप चाहते थे ताकि औद्योगिक विकास और खेतिहर खुशहाली की गारंटी की जा सके।

समाज-सुधार के संदर्भ में तौर पर गोखले की प्रमुख माँगें थीं : बेटी-बेटे के विवाहों पर साल भर से ज्यादा की आमदनी न खर्च की जाए, बहुविवाह पर रोक लगायी जाए, साठ साल की उम्र के बाद किसी को शादी न करने दी जाए और स्त्रियों की शिक्षा का सरकार की तरफ से बंदोबस्त हो। गोखले ने आम लोगों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का झण्डा भी बुलंद किया।

महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के एक गाँव में 9 मई, 1866 को एक साधारण मध्यवर्गीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में जन्मे गोपालराव गोखले ने बम्बई के एल्फिंस्टन कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। गणित, विज्ञान और अंग्रेज़ी साहित्य में निष्णात गोखले पहले इंजीनियर बनना चाहते थे, पर बाद में उन्होंने खुद को शिक्षा के प्रसार के लिए समर्पित करने का फैसला किया। उन्होंने पुणे में विष्णु शास्त्री चिपलुंकर द्वारा शुरू किये गये न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापन शुरू किया। उनकी निष्ठा से प्रभावित हो कर दक्खन

एजुकेशन सोसाइटी ने उन्हें अपना आजीवन सदस्य बना लिया। इसके बाद उन्हें सोसाइटी द्वारा चलाये जाने वाले फ़र्ग्युसन कॉलेज में गणित के प्रवक्ता के रूप में नियुक्ति मिली जहाँ उन्होंने 18 वर्ष तक पढ़ाया। यहीं वे महान समाजसुधारक जस्टिस रानाडे के सम्पर्क में आये और उनके आर्थिक-सामाजिक विचारों को मुरीद हो गये। रानाडे के निर्देशन में चलने वाली सार्वजनिक सभा के जरिये उन्होंने लोक-जीवन में प्रवेश किया। इसी दौरान उन्होंने उन्नीसवीं सदी के वरिष्ठ समाज सुधार गोपाल गणेश आगरकर द्वारा प्रकाशित *सुधारक* के अंग्रेज़ी संस्करण का सम्पादन भी शुरू किया। 1889 में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया और उसके बाद पार्टी की सभाओं में उन्हें नियमित रूप से वक्ता के रूप में निमंत्रित किया जाने लगा। 1896 में जब तिलक और उनके सहयोगियों ने *सार्वजनिक सभा* के नेतृत्व पर कब्ज़ा कर लिया तो रानाडे और गोखले ने अलग हो कर दक्खन सभा नामक संगठन बना लिया। सभा की तरफ से गोखले इंग्लैण्ड भेजे गये जहाँ उन्होंने ब्रिटिश और भारत सरकार के बीच खर्चों के अधिक समतामूलक वितरण के तरीके सुझाने के लिए गठित वेबली आयोग के सामने गवाही दी। 1899 में वे बम्बई विधान परिषद् के लिए चुने गये। इसके बाद वे इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिए लगातार चुने जाते रहे और एक बेहतरीन सांसद के रूप में उनकी धाक जमती चली गयी।

एक राजनीतिक और समाज-चिंतक के रूप में गोखले ने अपने पीछे कोई कृति नहीं छोड़ी, पर संसदीय मंच से दिये गये उनके पाण्डित्यपूर्ण भाषणों और लेखों में उनके उदारतावादी विचारों का पूरा खाका मिलता है। उनके बजट-भाषणों को क्लासिक का दर्जा मिल चुका है, क्योंकि एक तरफ तो राजनीतिक अर्थशास्त्र के विश्लेषण के रूप में उनका रुझान मुख्यतः रचनात्मक होता था, पर दूसरी ओर वे सरकार की राजकोषीय नीतियों की जम कर आलोचना भी करते थे। 1912 में गाँधी के निमंत्रण पर वे दक्षिण अफ्रीका गये और वहाँ होने वाले सत्याग्रह के लिए उन्होंने न केवल कोष जमा किया, बल्कि इम्पीरियल कौंसिल में नटाल के भारतीय मजदूरों को राहत दिलाने के लिए दो बार प्रस्ताव भी रखा। गाँधी के भारत आगमन पर गोखले ही उनके पथ-प्रदर्शक साबित हुए, और गोखले की विरासत गाँधी ने ही सँभाली।

कांग्रेस की राजनीति में भाग लेते हुए गोखले ने भारतीय आजादी के लिए तिलक और उनके सहयोगियों के त्याग-बलिदान की हमेशा सराहना की, पर वे उनकी रणनीति से सहमत नहीं थे। सांगठनिक मामलों और पद्धति के मामले में तिलक के बजाय गोखले डी.ई. वाचा और फ़ीरोज़शाह मेहता की तरफ झुके। 1905 में उन्हें कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में अध्यक्ष चुना गया। यह उनके राजनीतिक

करियर का चरमोत्कर्ष था। अध्यक्ष के रूप में तिलक और उनके अनुयायियों को कांग्रेस के हाशिये पर धकेल दिया जिससे पार्टी उनके नेतृत्व वाले उदारतावादी नरम दल और तिलक, विपिन चंद्र पाल और लाला लाजपत राय के नेतृत्व वाले राष्ट्रवादी गरम दल में बँट गयी। कांग्रेस का यह विभाजन 1915 में गोखले की मृत्यु के साथ ही खत्म हो पाया।

देखें : अबुल कलाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, चरण सिंह, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, बल्लभभाई पटेल, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया, विनायक दमोदर सावरकर।

संदर्भ

1. डी.जी. करवे और डी.वी. आम्बेकर (सम्पा.) (1962), *स्पीचिज़ ऐंड राइटिंग्स ऑफ़ गोपाल कृष्ण गोखले*, तीन खण्ड, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई.
2. मोहम्मद शब्बीर कैंट, (1992) *तिलक और गोखले : अ कम्परेटिव स्टडी*, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. स्टेनली बोलपर्ट (1982), *तिलक ऐंड गोखले : रेवोल्यूशन ऐंड रिफॉर्म इन मोंकिंग ऑफ़ माडर्न इण्डिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया, बर्कले.

— अभय कुमार दुबे

गोपाल बाबा वलंगकर

(Gopal Baba Valangkar)

महाराष्ट्र के ग़ैर-ब्राह्मण आंदोलन की प्रमुख हस्ती गोपाल बाबा वलंगकर (1840-1900) की गिनती उन सामाजिक क्रांतिकारियों, पत्रकारों और सामाजिक चिंतकों में होती है जिन्होंने ज्योतिबा फुले की रैडिकल विरासत को आगे बढ़ाया और डॉ. आम्बेडकर के युगप्रवर्तक काम के लिए ज़मीन तैयार की। फुले के अनन्य मित्रों में से एक वलंगकर को दलित साहित्य और संस्कृति का प्रेरक माना जाता है। वे *अनार्य दोष परिहारक मण्डल* के संस्थापक थे। इस मण्डल ने महार और चांभार जैसी दलित जातियों की संस्कृति का प्रथम बार शब्द-चित्रण किया। दरअसल, यह मण्डल महार एवं चांभार सांस्कृतिक चेतना की नुमाइंदगी करने वाला सर्वप्रथम संस्थागत प्रयास था। इसका मक़सद था दलित समाज की स्वतंत्र पहचान बनाना ताकि सामाजिक बहिर्वेशन के खिलाफ़ किया गया संघर्ष एक सार्थक विकल्प का रूप ले सके। समाज सुधारक के साथ-साथ वलंगकर की पहचान एक लेखक के

रूप में भी थी। 1894 में उन्होंने *हिंदू धर्म दर्पण* नामक पुस्तक लिखी। वे अभंग और कविताएँ भी लिखते थे। वलंगकर आम्बेडकर के फ़ौजी सूबेदार पिता रामजी सकपाल के समकालीन होने के साथ-साथ उन्हीं की तरह धार्मिक भी थे। जीवनपर्यंत ब्रिटिश फ़ौज में सेवारत रहने वाले गोपाल बाबा का व्यक्तिगत जीवन अनुशासन और समर्पण की मिसाल था।

गोपाल कृष्ण वलंगकर का जन्म कोलाबा जिले में वलरा गाँव में एक महार परिवार में 1840 में हुआ था। उनके पिता का नाम विट्टलनाक सालवे वलंगकर था। नॉर्मल परीक्षा पास कर उन्होंने नौकरी हेतु आवेदन दिया। वे ब्रिटिश सेना में सिपाही की हैसियत से भर्ती हुए और 1886 में हवलदार के पद से सेवानिवृत्त हो गये। सेना में भर्ती होने पर उन्हें आगे पढ़ने-लिखने का अवसर मिला। वे रामानंदी पंथ से प्रभावित थे। फ़ौज में रहते हुए वे समाज-सेवा से जुड़े और मराठी पत्र-पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया। इस तरह से उनकी जीवन धारा आगे बढ़ी, जो सामाजिक न्याय की धारा के साथ दर्ज हुई।

वरिष्ठ मराठी साहित्यकार य.दि. फड़के ने वलंगकर के बारे में जानकारी दी है कि वे कोंकण के रावढल गाँव के निवासी थे। सेना से रिटायर थे। उन्होंने मराठी में *विटाल विध्वंसन* (अपवित्रता विध्वंसन) नामक पत्रिका निकाली जो अगस्त 1889 में छप कर अछूतों का सबसे पहला जर्नल बनी। दलित-पत्रकारिता में इस पुस्तिका को नये युग का सूत्रधार माना जाता है। वलंगकर ने इस पत्रिका में प्रतिपादित किया कि अस्पृश्य पहले क्षत्रिय थे जो कालांतर में अस्पृश्य माने गये। वलंगकर ने जाति से लड़ने के लिए 1890 में *अनार्य दोष परिहारक मण्डली* नाम से एक सामाजिक संस्था बनायी। आम्बेडकर ने *बहिष्कृत भारत* के प्रथम अंक में अस्पृश्यों की उन्नति का आंदोलन आरम्भ करने का श्रेय गोपाल बाबा वलंगकर और बम्बई प्रांत को दिया। 1892 में महारों की सेना में भरती पर रोक लगी। वलंगकर ने ब्रिटिश सरकार के इस आदेश के खिलाफ़ जस्टिस रानाडे की सहायता ली और मराठी में याचिका पेश की। हालाँकि सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की, लेकिन इससे दलित-हित में एक संदेश गया। 1895 में उन्हें कोलाबा के ज़िलाधीश ने महाड़ लोकल बोर्ड का सदस्य बनाया, लेकिन जब बैठक आयोजित हुई कोई भी सवर्ण बैठक में भाग लेने नहीं आया। जैसे कि वहाँ अछूत नहीं कोई शेर आ गया हो। 1895 में जब पुणे में कांग्रेस अधिवेशन हुआ उन्होंने नेताओं से माँग की कि वे अस्पृश्यता निवारण के लिए ठोस क़दम उठाएँ।

कोलाबा ज़िले के महाड़ ताल्लुका से पाँच मील दूर रावढल जैसे छोटे से ग्राम के निवासी बाबा वलंगकर फ़ौज में नौकरी करते हुए ज्योतिबा फुले और उनके अनुयायियों के सम्पर्क में आये और *सत्य शोधक समाज* के सदस्य बन गये।

वलंगकर के समकालीन एक सैनिक आर.सी. घाडगे ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि वलंगकर रविवार के दिन पुणे कैम्प के फ़ौजियों को दिया जाने वाला फुले का भाषण सुनते थे। फुले और वलंगकर की अभिन्न मित्रता के कई प्रमाण मिलते हैं। फुले महारवाड़ा, भवानी पेठ, पुणे में वलंगकर के घर नियमित रूप से जाया करते थे। फुले के अभिन्न मित्र गोविंद गणपत काले ने विशेष रूप से उस प्रवेश-विधि को देखा जिसके अनुसार फुले और वलंगकर सत्य शोधक समाज के कार्यक्रमों में आने वाले सवर्ण जाति के हर दर्शक की परख करते थे। इसका आधार था वह खाने की पंक्ति जिसमें वलंगकर बैठते थे। सैयाजीराव गायकवाड़ महाराज के सम्मान में हुए सत्य शोधक समाज के एक उत्सव में फुले के साथ वलंगकर ने भी अपने विचार प्रकट किये थे। 1880 के मध्य तक फुले और वलंगकर की मित्रता गहरी हो चुकी थी।

लंदन विश्वविद्यालय के फ़िलिप कांस्टेबिल ने 'उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के पश्चिम भारत का प्रारम्भिक दलित साहित्य एवं संस्कृति' नामक लम्बे शोधपूर्ण लेख में गोपाल बाबा वलंगकर द्वारा दलित चेतना में दिये गये योगदान का अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह लेख डॉ. आम्बेडकर जन्मशती (1991-92) के दौरान भारत सरकार द्वारा लंदन में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठी में प्रस्तुत किया गया था। वलंगकर ने 1886 में फ़ौज से रिटायर होने के बाद दीनबंधु और सुधारक जैसे मराठी अखबारों में जातिप्रथा और छुआछूत की समस्या के खिलाफ़ लेखन शुरू किया। वे रत्नागिरि जिले में दपोली में रहने लगे और स्कूल मास्टर की नौकरी कर ली। वहीं महार और चांभार जाति के सेवानिवृत्त फ़ौजी अधिकारियों के साथ मिल कर 1890 में अनार्य दोष परिहारक मण्डल स्थापित किया। इन फ़ौजी अधिकारियों द्वारा अलग से संगठन बनाना, जबकि इनमें से अधिकांश सत्य शोधक समाज के सदस्य और फुले के अनुयायी थे, एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर इंगित करता है। यदि महार-चांभार जातियों को हिंदू शास्त्रों और समाज द्वारा उन पर किये गये अत्याचारों और सामाजिक बहिष्कार के विषय में जागरूक बनाना आवश्यक था तो यह भी आवश्यक था कि उन्हें अपनी मान्यताओं और सांस्कृतिक विरासत के बारे में स्वतंत्र अस्तित्व के बारे में आश्वस्त किया जाए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की फ़ौज में महार, मांग और चांभारों की भर्ती की जाती थी, पर 1890-91 में इस पर रोक लग गयी। गोपाल बाबा ने रामजी सकपाल के साथ मिल कर इसके खिलाफ़ जुलाई, 1894 में याचिका लिखी। विचित्र बात यह थी कि खुद उनकी जाति के लोगों ने इस मामले में उनका समर्थन नहीं किया। याचिका में दावा किया गया था कि जिन लोगों को अछूत कहा जाता है वे वास्तव में पहले क्षत्रिय थे। वलंगकर ने मांग की थी कि फ़ौज में से ब्राह्मण जोशियों

का स्थान महार जोशियों को दिया जाए।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाडगे बाबा, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. फ़िलिप कांस्टेबिल (1991), 'अली दलित लिटरेचर ऐंड कल्चर इन लेट नाइंटीथ ऐंड अली ट्वेंटियथ सेंचुरी वेस्टर्न इण्डिया', लंदन विश्वविद्यालय, लंदन.
2. आर. चंद्रा और कन्हैया लाल चंचदीक, *आधुनिक भारत का दलित आंदोलन*, युनिवर्सिटी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. श्यौराज सिंह बेचैन, *हिंदी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार आम्बेडकर का प्रभाव*, समता प्रकाशन, नयी दिल्ली।

— मोहनदास नैमिशराय

गोपीनाथ कविराज

(Gopinath Kaviraj)

दार्शनिक और सांस्कृतिक परम्परा के महत्वपूर्ण मनीषी गोपीनाथ कविराज (1887-1976) को श्रुति-आगम सहित अन्यान्य पारम्परिक शास्त्रों की मूलगामी गवेषणा के लिए जाना जाता है। उनके जीवन और कृतित्व का दूसरा छोर साधुओं-सिद्धों के सत्संग व साधनागत स्वानुभूतियों से प्रमाणित समृद्ध रहस्य-बोध से संबंधित है। गोपीनाथ कविराज ने शास्त्रगत तार्किक द्वंद्वों का समग्रता और सरसता से अवगाहन करते हुए यथार्थ जीवन से संबंधिक चैतसिक प्रकृति के द्वंद्वों व जिज्ञासाओं के समाधान को प्राथमिकता दी। साथ ही उन्होंने अखण्ड-योग की संकल्पना के अंतर्गत खण्ड-दृष्टि के स्थान पर समन्वय-दृष्टि को अनुशंसित किया। कविराज की आत्माभिमुखी साधना में शास्त्राभिमुखता और गुरुमुखता दोनों का ही आधारभूत महत्व रहा है। साधना से इतर क्षेत्र में भी कविराज ने विभिन्न शास्त्रों का गवेषणात्मक अध्ययन कर निहितार्थों को शुद्ध समीक्षात्मक एवं समग्रतापरक दृष्टि से परखने का प्रयास किया है। अपने जीवन के संध्याकाल में कविराज 'माँ' के प्रति समर्पण को सर्वाधिक महत्व देने लगे थे लेकिन स्वाध्याय के पूर्ववर्ती काल में उन्होंने अध्यात्म-जीवन में भी शास्त्रालोचन की आवश्यकता रेखांकित की थी। कविराज ने वागाधारित ज्ञान



गोपीनाथ कविराज (1887-1976)

के दो रूप निदर्शित किये हैं : बोधरूप ज्ञान, जिसे अखण्ड या अभेदपरक परावाक् या परानुभूतिजन्य माना जाता है; एवं शब्दरूप ज्ञान, जिसमें भिन्नता की अभिव्यक्ति अथवा भाषागत व वस्तुगत भेदपरकता परिलक्षित होती है। तदनुसार, आर्ष-अनुभूतिजन्य सत्य-दृष्टि का जनक 'बोधात्मक परज्ञान' ही 'वागात्मक अपर ज्ञान' या वैखरी अर्थात् हमारी भाषागत शाब्दिक विविधता पर आरूढ़ हो कर अर्थ-प्रकाशन करता है। वाक् के ये दोनों ही स्तर या क्षेत्र क्रमशः कविराज की चेतनागत व बुद्धिगत सक्रियता के अपरिहार्य आयाम रहे हैं।

कविराज का जन्म वारींद्र श्रेणी के बंगाली ब्राह्मण कुल में 7 सितम्बर, 1887 को पूर्वी बंगाल के धामराई नामक स्थान में हुआ था। कविराज के जन्म से पहले ही दिवंगत हो चुके उनके पिता बैकुंठनाथ दर्शन, अंग्रेजी व संस्कृत के श्रेष्ठ विद्वान माने जाते थे। उच्च अध्ययन के लिए काशी जाने पर गोपीनाथ की भेंट बनारस संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य डॉ. वेनिस से हुई। इस मुलाकात ने कविराज के जीवन पर गहरा असर डाला। काशी में ही उन्होंने भारतीय इतिहास संस्कृति, पुरातत्त्व, पालि-प्राकृत, न्याय दर्शन इत्यादि का अध्ययन किया। 1914 में कविराज की नियुक्ति बनारस संस्कृत कॉलेज के पुस्तकालय सरस्वती भवन के अध्यक्ष के रूप में हुई। अप्रैल, 1918 में डॉ. वेनिस ने निधन से पहले कविराज को सरस्वती भवन में संरक्षित महत्वपूर्ण हस्तलिखित सामग्री को ग्रंथमालाओं के रूप में भूमिका सहित सम्पादित कर प्रकाशित करने का निर्देश दिया। इसी के परिणामस्वरूप प्रिंस

ऑफ वेल्स : सरस्वती भवन टेक्स्ट के नाम से एक ग्रंथमाला प्रकाशित की गयी। प्रिंस ऑफ वेल्स : सरस्वती भवन स्टडीज़ के रूप में दूसरी ग्रंथमाला में कविराज के अंग्रेजी में लिखे गये शोधपूर्ण लेखों को प्रकाशित किया गया। प्रथम ग्रंथमाला के तहत किरणावलीभास्कर, कुसुमांजलि बोधिनी, वेदांतकल्पलतिका एवं अद्वैत चिंतामणि का प्रकाशन हुआ। दूसरी ग्रंथमाला के अंतर्गत कविराज और गंगानाथ झा के सहयोग से थीइज़म इन एंशिअंट इण्डिया एवं बिब्लियोग्राफी ऑफ न्याय-वैशेषिक लिटरेचर का प्रकाशन किया गया। 1924 में गंगानाथ झा के कार्यमुक्त होने पर कविराज गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य बने। 1937 के दौरान अस्वस्थता एवं वैराग्य-भाव के कारण समय से पहले अवकाश ग्रहण करने तक कविराज ने उक्त दोनों ग्रंथमालाओं के अंतर्गत विभिन्न विषयों पर केंद्रित लगभग सत्तर ग्रंथों का प्रकाशन सम्पन्न कर लिया था। सेवामुक्त होने के पश्चात वे पूर्णतः स्वाध्याय व साधना में निरत हो गये। भारत सरकार ने गोपीनाथ कविराज को महामहोपाध्याय की उपाधि और पद्मविभूषण से अलंकृत किया। कविराज को साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डीलिट. की उपाधि दी।

कविराज की मातृभाषा बांग्ला थी। इसलिए उनकी अनेक कृतियाँ बांग्ला में ही हैं। दूसरे क्रम में उनकी मौलिक रचनाएँ अंग्रेजी में हैं। उनके सम्पादित ग्रंथों में संस्कृत का प्राधान्य रहा है। निबंधों, भूमिकाओं व अनूदित कृतियों में हिंदी की प्रमुखता है। विभिन्न भाषाओं में रचित कविराज के मौलिक ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं : श्री विशुद्धानंद प्रसंग, अखण्ड महायोग, पूजा, साधुदर्शनओ सत्प्रसंग, तंत्र ओ आगम शास्त्रे दिग्दर्शन, विशुद्ध वाक्यामृत, भारतीयसाधनार धारा, साहित्य चिंता, तांत्रिक सिद्धांत ओ साधना, श्रीकृष्ण प्रसंग, पत्रावली, स्वात्म-सम्वेदन, विशुद्ध वाणी (सभी बांग्ला में); पूजा तत्त्व, तांत्रिक वाग्मय में शाक्त दृष्टि, भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्ड), काशी की सारस्वत-साधना, श्रीकृष्ण प्रसंग, साधुदर्शन और सत्प्रसंग, तांत्रिक साहित्य, अमरवाणी (सभी हिंदी में); अ कैटलॉग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट एक्वायर्ड फॉर संस्कृत कॉलेज, बनारस ड्यूरिंग 1918-1919, डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ मीमांसा मैनुस्क्रिप्ट इन द संस्कृत कॉलेज, बनारस, बिब्लियोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर, आस्पेक्ट्स ऑफ थाट (अंग्रेजी में)।

कविराज के दार्शनिक सिद्धांतों में उनके द्वारा प्रतिपादित व प्रयुक्त अखण्ड महायोग का केंद्रीय महत्त्व है। अखण्ड योग से फलित दार्शनिक उपलब्धि है अखण्ड-दृष्टि। कविराज मानते हैं कि मानव सहज ही खण्ड-दृष्टि से ग्रस्त हो भेदपूर्वक व्यवहार करता है। वहीं समग्रतामूलक अखण्ड-

दृष्टि बोधभूमि से संदर्भित होती है। खण्ड-भाव के मूल में मन का प्राधान्य होता है, अतः अंतःकरण की उपकरणात्मकता से सत्य परिच्छिन्न रूप में ही प्रगट होता है। मत-मतांतर मानस-क्रीड़ाएँ हैं। अतिक्रांत मानसिकता में मत-मतान्तर विलीन हो जाते हैं। अखण्ड सत्ता का बोध अथवा महासत्ता का सिद्धांत खण्ड-सत्ता को अपने क्रोड में समाहित कर लेता है। कविराज खण्ड-सत्ता को सर्वथा निराकृत नहीं करते बल्कि उसे ही पूर्ण या अखण्ड सत्ता के रूप में स्वीकार कर लेने के त्रुटिपूर्ण व घातक मानसिक प्रयास के प्रति सावधान करते प्रतीत होते हैं। अखण्ड दृष्टि से देखने के लिए वे तृतीय नेत्र रूपी अंतर्दृष्टि का उन्मूलन आवश्यक बताते हैं। उनके अनुसार आज्ञा-चक्र से ऊपर के स्थान से सब कुछ देखा-सुना जा सकता है।

अपने महायोग के प्रसंग में कविराज मानव देहस्थ कुण्डलिनी, चक्रादि-जागरण व नासाग्र ध्यान आदि रहस्यात्मक आध्यात्मिक संसाधनों व सिद्धांतों की विशद चर्चा करते हैं। वे अन्यत्र यह भी प्रतिपादित करते हैं कि अखण्ड महायोग की साधना किसी तकनीकी आसन व ध्यान विशेष में विहित नहीं है। इसकी उपलब्धि तो माँ की गोद में शिशुवत् पड़े रहने से ही हो जाती है। इस 'माँ' तत्त्व को कविराज ने भगवती सुषुम्णा के रूप में परिभाषित किया है। उल्लेखनीय है कि कविराज ने प्रायः अखण्ड महायोग, विशुद्ध सत्ता का अवतरण, सर्वमुक्ति, अखण्ड सत्ता, विज्ञानमय सत्ता एवं स्वामी विशुद्धानंद के सूर्य-विज्ञान सदृश शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है। उनके दर्शन में महायोग का सामान्य अर्थ लगाया गया है : अगणित प्रकार के पृथक व विक्षिप्त भावों का एक सूत्र में संयोजन और तादात्म्य स्वरूप में उनकी प्रतिष्ठा। मानसिक व जागतिक रूप में पृथक-पृथक प्रतीत होने वाले तत्त्वों व उपादानों के मध्य तादात्म्य-स्थापन अखण्ड-महायोग का मूल निहितार्थ है : जैसे, शिव व शक्ति, आत्मा व परमात्मा, एक आत्मा व अन्य आत्मा, महाशक्ति व आत्मा, लोक व लोकान्तर, लोक व लोकातीत इत्यादि के मध्य अभेद-बोध की उपलब्धता असल में अखण्डत्व या पूर्णत्व व सर्वसमावेशन का पर्याय है। कविराज के मतानुसार एक अखण्ड-महायोग के पथिक के लिए पूर्णत्व की सम्बोधि के परिप्रेक्ष्य में दिव्य-बोध एवं मायिक-बोध दोनों ही अपेक्षित हैं। एक पूर्ण योगी में जीवत्व व शिवत्व के बोध का समानाधिकरण्य अभीष्ट है, अतः उसके लिए मात्र तृतीय नेत्र ही नहीं, अपितु तीनों नेत्रों का सकल उन्मीलन व विकास अनिवार्य है।

कविराज अखण्ड-महायोग से सम्भव चरम लक्ष्य की प्राप्ति के रूप में मनुष्यत्व की उपलब्धि रेखांकित करते हैं : तदनुसार अभी मानव के लिए मनुष्यत्व प्राप्त करना शेष है। मनुष्य आकृति से मनुष्य होने पर भी प्रकृत रूप में मनुष्य नहीं

है। कविराज के मतानुसार मनुष्यत्व-प्राप्ति उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्यत्व से उनका अभिप्राय है मानव में तात्त्विकबोध का उदय और उसमें अनुवर्ती कर्म-प्रवृत्ति।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. गोपीनाथ कविराज (1990), *सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ एम.एम. गोपीनाथ कविराज*, म.म. गोपीनाथ कविराज जन्म शताब्दी समारोह समिति, वाराणसी.
2. भगवती प्रसाद सिंह (1968), *मनीषी की लोकयात्रा*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
3. प्रियव्रत शुक्ल (2006), 'गोपीनाथ कविराज प्रणीत अखण्ड महायोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि', अम्बिकादत्त शर्मा (सम्पा.), *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.

— प्रियव्रत शुक्ल

गोवर्धनराम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता

(Govardhanram Tripathi and Gujrati Identity)

उन्नीसवीं सदी में गुजरात के साहित्यिक-सांस्कृतिक नवजागरण के प्रमुख अग्रदूत गोवर्धनराम त्रिपाठी (1855-1907) ने *सरस्वतीचंद्र* नामक बृहद उपन्यास की रचना करके गुजराती साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात किया। उनके लिए साहित्य का उद्देश्य लोगों और राष्ट्र में परिवर्तन लाना था। अपने जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति वे बेहद आशावादी थे। उन्होंने अपनी डायरीनुमा व्यक्तिगत पुस्तिका, जिसे उनकी मृत्यु के अनेक वर्ष बाद *स्क्रेप बुक* के नाम से प्रकाशित किया गया, में लिखा था : 'मैं कुछ ऐसा बनाना या बनते देखना चाहता हूँ जो महज एक ऐसी-वैसी सामान्य घटना न हो, बल्कि ऐसे लोगों को बनते देखना



गोवर्धनराम त्रिपाठी (1855-1907)

चाहता हूँ जो अपने आप को बेहतर तरीके से व्यवस्थित कर सकें और जो हमारे आज की शिक्षित व अशिक्षित लोगों की निकम्मी पीढ़ी से ज़्यादा ताकतवर और अधिक ओजस्वी हों। इस प्रकार का राष्ट्र कैसे बनाया जा सकता है; इस उद्देश्य के लिए चेतना जगाने वाली चिंगारी को कैसे सुलगाया जाए? यह प्रश्न मेरे दिमाग में पहले भी थे और आज भी हैं।' गोवर्धनराम त्रिपाठी को एक चिंतक-साहित्यकार के रूप में अपने उद्देश्य की महत्ता और उसे पूरा करने की अपनी क्षमता पर भरपूर विश्वास था और इसीलिए उन्होंने साहित्य के माध्यम से समाज-सुधार की वांछित चिंगारी सुलगाने का प्रयास किया। गोवर्धनराम त्रिपाठी का मूलभूत दर्शन 'उत्सर्गसिद्धि' पर आधारित था जिसका तात्पर्य था अपना सारा जीवन किसी ऐसे बड़े उद्देश्य के लिए न्योछावर कर देना जिससे मानवता की व्यापक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया जा सके।

गोवर्धनराम त्रिपाठी का जन्म गुजरात के नाडियाड शहर में 20 अक्टूबर, 1855 को विजयादशमी के दिन एक समृद्ध परिवार में हुआ था। बम्बई के बुद्धिबद्धक प्राथमिक स्कूल से पढ़ाई के पश्चात 1875 में उन्होंने एल्फिंस्टन कॉलेज से अंग्रेज़ी, संस्कृत, अर्थशास्त्र, इतिहास, न्यायशास्त्र, नीति शास्त्र जैसे विषयों की पढ़ाई के साथ बीए की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने अपनी स्नातक की पढ़ाई के दौरान ही आगे क्रानून पढ़ने और उसके बाद स्वतंत्र तौर पर वकालत करने का निर्णय लिया। वकालत के पढ़ाई के साथ ही उन्होंने भाषा एवं साहित्य का अध्ययन शुरु किया। एमए की उपाधि के लिये उन्होंने कॉलेज में दाखिला तो लिया लेकिन ख़राब स्वास्थ्य के

कारण उन्हें यह इरादा त्याग देना पड़ा। गोवर्धनराम का बचपन बेहद सुखमय था लेकिन उनके पिता के व्यापार में भारी नुक़सान के कारण उनके जीवन में भारी बदलाव आया। उन्नीस वर्ष की आयु में ही गोवर्धनराम त्रिपाठी पर पूरे संयुक्त परिवार की ज़िम्मेदारी आ गयी। ख़राब आर्थिक स्थिति के कारण ही गोवर्धनराम त्रिपाठी ने बड़ी अनिच्छा से सन् 1879-1883 के दौरान भावनगर में दीवान के निजी सचिव के रूप में भी काम किया। 1883 में क्रानून की पढ़ाई पूरी करके वे बम्बई में वकालत करने लगे। बचपन से अपने समाज की निःस्वार्थ सेवा और साहित्य के प्रति स्वाभाविक अनुराग के कारण गोवर्धनराम त्रिपाठी ने निर्णय लिया कि वे चालीस साल की आयु में वकालत से सेवा-निवृत्ति लेकर समाज तथा साहित्य की सेवा करेंगे। 1898 में केवल 43 वर्ष की आयु में गोवर्धनराम त्रिपाठी अपने गृह नगर नाडियाड लौट आये और पूर्णकालिक साहित्य-रचना में रम गये।

गोवर्धनराम त्रिपाठी ने भारतीय दर्शन एवं भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का विशद अध्ययन किया था। अपनी इस धरोहर के प्रति अनुराग उनके लेखन में परिलक्षित भी होता है। लेकिन उन्होंने सामाजिक कुरीतियाँ मिटाने के लिए सामाजिक व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता पर जोर दिया। त्रिपाठी को अंग्रेज़ी-शिक्षा मिली थी और वे पश्चिमी विचारों से भी काफ़ी प्रभावित थे। यहाँ तक कि भारत में समाज-सुधारों का पक्ष लेते हुए वे यहाँ के अति-उत्साही व त्वरित सुधार के आग्रही सुधारकों के प्रति आशंकित भी थे। वे उन सुधारों की मूल्य-परीक्षा पश्चिम की कसौटियों पर कस कर करना चाहते थे। अपने इसी रवैये के कारण उन्हें समाज-सुधारकों में पुनरुत्थानवादी और संकीर्ण पुरातनपंथियों में आधुनिकतावादी माना जाता था। गोवर्धनराम के व्यक्तित्व और कृतित्व का यह विरोधाभास स्त्रियों के प्रति उनके रवैये में दिखाई पड़ता है।

गोवर्धनराम की एक अन्य प्रमुख रचना *लीलावती जीवनकाल* है जो उन्होंने अपनी दिवंगत पुत्री के संस्मरण के तौर पर लिखी थी। लीलावती का जन्म 1881 में हुआ था। गोवर्धनराम बचपन से ही उसके लालन-पालन एवं शिक्षा के प्रति बेहद गम्भीर थे। उन्होंने लीलावती को अपने लिहाज से उत्तम संस्कारों, नारी के कर्तव्यों और 'उत्सर्गसिद्धि' के उच्चतम आदर्शों की भरपूर शिक्षा दी थी। लीलावती केवल एक बार बचपन में औपचारिक शिक्षा के लिए स्कूल भेजी गयी। लेकिन गोवर्धनराम त्रिपाठी को यह शिक्षा भारतीय लड़की के भविष्य के लिए अनुकूल नहीं प्रतीत हुई। इसके बाद से लीलावती की सारी शिक्षा घर पर ही हुई। केवल 14 वर्ष की आयु में लीलावती का विवाह हुआ। उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था। प्लेग की बीमारी में अपने ससुराल पक्ष के लोगों की देखभाल करते हुए स्वयं लीलावती बीमार पड़ गयी और केवल

20 वर्ष की आयु में उसका देहांत हो गया। गोवर्धनराम ने *लीलावती जीवनकाल* के माध्यम से भारत में स्त्री-शिक्षा के आधुनिक प्रारूप के समक्ष पारम्परिक शिक्षा का एक प्रारूप पेश किया। इसके जरिये वे भारत की पारम्परिक व्यवस्था में आदर्श नारी का एक ऐसा रूप पेश करना चाहते थे जिसके लिए जीवन का उद्देश्य आदर्श गृहिणी होना और उत्सर्गसिद्धि के अलावा कुछ न हो। गोवर्धनराम स्त्रियों से अपेक्षा रखते हैं कि वे विपरीत परिस्थितियों में भी मुस्कराती रहेंगी। उनका विरोधाभास तब सामने आता है जब अपनी *स्क्रेप बुक* में वे अपनी बेटी के ससुरालवालों की आलोचना करते दिखाई पड़ते हैं जिनकी बदसलूकी के कारण लीलावती को असमय ही जीवन गँवाना पड़ा। इस मकाम पर गोवर्धनराम ने इसके लिए कुछ हिंदू परम्पराओं को भी इसका ज़िम्मेदार ठहराया है। दिलचस्प बात यह है कि *स्क्रेप बुक* में लिखी गयी ये बातें *लीलावती जीवनकाल* में मौजूद नहीं हैं।

गोवर्धनराम त्रिपाठी ने खुद अपने आप साथ किये सम्वाद का वर्णन भी लिखा है जिसके जरिये उनके विचारों, मान्यताओं और मानसिक उलझनों का कच्चा चिट्ठा सामने आता है। *स्क्रेप बुक* में गोवर्धनराम के दर्शन और विचारधारा के बारे में बेहद गहन और अंतर्विरोधपूर्ण जानकारी मिलती है। वे एक संयुक्त परिवार के मुखिया के रूप में अपने परिवार के रवैये की आलोचना भी करते हैं लेकिन इसके बावजूद परिवार के प्रति उनके स्नेह में कोई कमी नहीं आती। गोवर्धनराम त्रिपाठी की अन्य कृतियों में *स्नेहमुद्रा*, *नवलराम नू जीवन वृत्तान्त*, *दयाराम नो अक्षरदेह* और *साक्षर जीवन* भी शामिल हैं। गुजराती साहित्य में गोवर्धनराम ने साहित्यकारों की कई पीढ़ियों को प्रभावित किया। उनके सृजनकाल और उसके अगले दो दशकों को पण्डित युग के नाम से पुकारा गया (यहाँ पण्डित का आशय विद्वान से है)।

एक सामाजिक विचारक के रूप में गोवर्धनराम अपने पाठकों के लिए मानव-जीवन के सार-तत्त्व जैसे विषयों पर दार्शनिक निबंध रचना चाहते थे। लेकिन उन्हें लगा कि यदि मानव-जीवन की सच्चाइयों को कहानियों के माध्यम से कहा जाए तो उनका प्रसार अधिक व्यापक होगा और उनमें निहित संदेश भी अधिक संख्या में लोगों को प्रभावित कर सकेगा। इसलिए उन्होंने अपने साहित्य-सृजन के लिए उपन्यास की विधा चुनी। उनका मानना था कि उपन्यास एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा केवल रोचक और कलात्मक कहानी ही नहीं बल्कि आम लोगों की विचारधारा को परिवर्तित करने के संदेश भी प्रसारित किये जा सकते हैं। गोवर्धनराम की मान्यता थी कि उनके समकालीन साहित्यकार उपन्यास-विधा का समुचित उपयोग नहीं कर रहे हैं। केवल सौंदर्य साधना पर सारा ध्यान केन्द्रित कर पाठकों के सामने स्तरहीन साहित्य परोसा जा रहा है।

गोवर्धनराम त्रिपाठी ने उपन्यास को समाज-परिवर्तन हेतु संदेशवाहक के रूप में चुना। उन्होंने उपन्यास के पाठकों को तीन वर्गों में विभाजित किया। पहला वर्ग ऐसे विद्वान पाठकों का था जो मानव व्यवहार की गहरी समझ हासिल करने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। उन्होंने दूसरा वर्ग विवेकी पाठकों का माना जो एक विशेष उद्देश्य के लिए उपन्यास पढ़ते हैं, और तीसरा और सबसे बड़ा वर्ग सामान्य पाठकों का है जो केवल मनोरंजन और मनसनी के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। गोवर्धनराम ने नतीजा निकाला कि सबसे ज्यादा उपन्यास इसी वर्ग के पाठकों के लिए लिखे जा रहे हैं। गोवर्धनराम की दृढ़ मान्यता थी कि उपन्यास की धुरी में अगर केवल कल्पनाशीलता या कथावस्तु का अनूठापन होगा तो उससे काम नहीं चलेगा। उपन्यास का उद्देश्य तो पाठकों की चेतना को ऊँचे स्तर पर ले जाना चाहिये। और, यह करने के लिए उपन्यास के चरित्रों व घटना-क्रम का उपयोग किया जाना चाहिये। गोवर्धनराम त्रिपाठी के अनुसार केवल आदर्शवाद का चित्रण पाठकों में उच्च-विचारों से सज्जित जीवन की कामना प्रेरित नहीं कर सकता। इसी प्रकार बुराई का वीभत्स चित्रण भी पाठकों पर एक निवारक के रूप में प्रभावी नहीं होता। इसलिए गोवर्धन राम ने अपने उपन्यास के लिए ऐसे सजीव चरित्रों का निर्माण किया जो पूरे कथानक में अपने जीवन के उच्चतर आदर्शों को पाने और अपनी चेतना का स्तर बढ़ाने के प्रयास में निरंतर लगे दिखाई पड़ते थे।

गोवर्धनराम त्रिपाठी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना लिखने में 1885 से 1901 के बीच 17 साल का समय लगाया। चार खण्डों और 1800 पृष्ठों का उपन्यास *सरस्वतीचंद्र* गुजराती साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। इस उपन्यास का पहला खण्ड 1887 में प्रकाशित हुआ था। एक प्रकार से तो इस उपन्यास के चारों खण्ड एक दूसरे के साथ कथा प्रवाह में जुड़े हुए हैं लेकिन इन चारों खण्डों को एक एकल कथा नहीं माना जा सकता। एक सजग लेखक की तरह इस उपन्यास के विभिन्न खण्डों में समय के साथ बदलते सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तनों की स्पष्ट छाप है। प्रकाशित होने के बाद *सरस्वतीचंद्र* गुजरात के शिक्षित व मध्यमवर्ग की सबसे प्रिय पुस्तक बन गयी थी। गुजरात का युवा वर्ग इस उपन्यास के प्रमुख चरित्रों के आईने में खुद को देखने लगा था।

देखें : ईश्वर चंद्र विद्यासागर, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमारन् आशान्, गजनान माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. त्रिदीप सुहृद (2002), 'गोवर्धनराम त्रिपाठी एंड द फिलॉसफ़ी ऑफ़ कंज़म्पशनस्म : अ रीडिंग ऑफ़ सरस्वतीचंद्र', मीनाक्षी मुखर्जी (सम्पा.), *अर्ली नॉवेल्स इन इण्डिया*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली.
2. सुधीर चंद्र (2003), 'टू फ़ेसेज़ ऑफ़ प्रोज़ : बेरहामजी मलबरी एंड गोवर्धनराम त्रिपाठी', अवतार कृष्ण मेहरोत्रा (सम्पा.), *अ हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर*, सी. हर्स्ट 3 को.पब्लिशर्स, लंदन.
3. सोनल शुक्ल (1987), 'गोवर्धनरामस वुमन', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 22, अंक 44.

—रवि दत्त वाजपेयी

गोविंद चंद्र पाण्डे

(Govind Chandra Pande)

स्वातंत्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक मान्य और प्रतिष्ठित अध्येताओं में से एक गोविंद चंद्र पाण्डे (1923-2011) ने आजीवन इतिहास, दर्शन और संस्कृति जैसे विषयों में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया। उनकी सम्पूर्ण विचार-साधना समवेत रूप से संस्कृति-दर्शन के रूप में फलित हुई। पाण्डे के संस्कृति-दर्शन पर हीगेल के इतिहास-दर्शन, बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविंद के मानवचक्र-सिद्धांत का प्रभाव दिखता है। लेकिन उसकी अंतिम परिणति भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आत्मानुसंधनपरक विराट मूल्यबोध में होती है। *फ़ाउंडेशन ऑफ़ इंडियन कल्चर एंड सिविलाइजेशन*, *मूल्य-मीमांसा*, *भारतीय परम्परा के मूल स्वर* तथा *शंकराचार्य : विचार और संदर्भ* जैसी कृतियाँ उन्हें बीसवीं सदी के एक उल्लेखनीय संस्कृति-दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं। इसके अतिरिक्त *भक्ति दर्शन विमर्श*, *सौंदर्य दर्शन विमर्श* तथा *दर्शन विमर्श* भी उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

गोविंद चंद्र पाण्डे को उनकी कई स्थापनाओं के लिए जाना जाता है। वैदिक संस्कृति और बौद्ध दर्शन समेत सम्पूर्ण भारतीय दर्शन उनके अध्ययन-क्षेत्र में शामिल रहा है, लेकिन वैदिक संस्कृति विषयक उनके अध्ययन ने विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से अपनी ओर आकृष्ट किया है। वेदों के रचना-काल के बारे में पाण्डे का कहना है कि उपलब्ध साक्ष्यों के मुताबिक वेदों की रचना गंगा और सरस्वती से अफ़गानिस्तान तक फैले हुए प्रदेश में वहीं के निवासियों ने आज से पाँच हजार वर्ष या उससे अधिक पहले की होगी। उनके अनुसार वेदों को नित्य, अभ्रांत और सम्पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादक

स्वीकार करना एक पारम्परिक वैदिक धारणा मात्र है जो इतिहासकार के लिए स्वीकार्य सत्य नहीं हो सकती। परम्परा कहती है कि शब्दरूप वेद नित्य हैं और चूँकि ऋषियों ने उन्हें सुना इसलिए वे 'श्रुति' हैं। इसके विपरीत गोविंद चंद्र पाण्डे का कहना है कि अन्य मानव-ग्रंथों के समान वेद एक विशिष्ट मानव-भाषा में निबद्ध हैं इसलिए वे मनुष्यकृत प्रतीत होते हैं। तर्क-बुद्धि से यह मानना ठीक नहीं लगता कि स्थूल शब्दात्मक वेद नित्य हो सकते हैं, न ही अपने उपलब्ध रूप में ईश्वरकृत। दूसरी ओर उन्हें वेदों को ऋषियों के साक्षात्कारात्मक अंतर्ज्ञान की अभिव्यक्ति मानने या इस माध्यम से ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश मानने पर कोई आपत्ति या विरोध नहीं है। दरअसल, पाण्डे ने वेद को ज्ञान-विज्ञान व्यक्त करने वाली विपुल ग्रंथ राशि करार दिया है। इस विचार के अनुसार वेद अंतर्ज्ञान से अनुप्राणित मनीषियों की रचनाएँ हैं जो एक सुदीर्घ युग की ज्ञान-साधना प्रकट करती हैं। क्या जिन ऋषियों में नाम मंत्र-द्रष्टाओं के रूप में उल्लिखित हैं, वे वास्तविक व्यक्ति और उन सूक्तों के प्रणेता थे? इस सवाल के उत्तर में गोविंद चंद्र पाण्डे ऋषियों को मंत्र-प्रणेता न मानकर मंत्र-द्रष्टा मान कर चलते हैं।

मूलतः उत्तराखण्ड के निवासी गोविंद चंद्र पाण्डे का जन्म इलाहाबाद में हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे प्रयाग, गोरखपुर तथा राजस्थान (जयपुर) विश्वविद्यालयों में प्राचीन इतिहास एवं भारतीय संस्कृति के प्रोफेसर, इलाहाबाद संग्रहालय, प्रयाग के अध्यक्ष तथा उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के निदेशक रहे। उन्होंने राजस्थान इतिहास परिषद, दर्शन-परिषद, इण्डियन आर्कियोलॉजिकल सोसाइटी तथा भारतीय इतिहास एवं संस्कृति परिषद् जैसी संस्थाओं की अध्यक्षता भी की। *परम्परा के मूल स्वर* एवं *साहित्य, शंकराचार्य : विमर्श और संदर्भ*, *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास और सौंदर्य और संस्कृति* उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। हिंदी और अंग्रेज़ी लेखन में समान रूप से निष्णात पाण्डे ने अपने जीवन-काल में साठ से अधिक महत्वपूर्ण और चर्चित ग्रंथों की रचना की। आर्ष काव्य परम्परा के अंतर्गत पाण्डे द्वारा किये गये वैदिक ऋचाओं के हिंदी अनुवाद अभी तक के अनुवादों की तुलना में उच्चस्तरीय माने गये हैं। इसी तरह से बौद्ध, जैन एवं न्याय दर्शन पर केंद्रित उनके विभिन्न अध्ययन काफी विश्वसनीय और अतुल्य बताये गये हैं।

वैदिक मंत्रों के संदर्भ में गोविंद चंद्र पाण्डे की मान्यता है कि ये मंत्र ज्ञानात्मक भी हैं, शब्दात्मक भी। शब्द और ज्ञान का जो भी भेद स्थूल स्तर पर दिखता है वह मूलतः पश्यंती के स्तर पर तिरोहित हो जाता है। वेदों, उनके रचयिता और रचनाकाल के बारे में उनका मत है कि इसका निर्णय टेढ़ी खीर है। गोविंद चंद्र पाण्डे ने इस संबंध में विभिन्न प्रचलित

मतों की पड़ताल की है। वे वेदों के अनादि होने की भारतीय परम्परा से लेकर मैक्समूलर के अनुमान से प्रेरित आधुनिक मत की भी परीक्षा करते हैं। वे 1200-1000 ईसा पूर्व की रचना *अवेस्ता* के साथ ऋग्वेद के भाषा-साम्य, बोगाजकुई के अभिलेखों और सैंधव सभ्यता को अनार्य सिद्ध करने की युक्तियों आदि पर भी चर्चा के बाद इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ये सारे तथ्य और विचार वैदिक और सैंधव सभ्यताओं को पृथक मूल का सिद्ध नहीं कर पाते।

भाषाशास्त्रीय एवं पुरातात्विक आधार पर आर्यों की खोज के संदर्भ में वे भाषा परिवारों के विभाजन पर कुछ तथ्यात्मक बातों के आधार पर भारोपीय की कल्पना, इसकी ध्वनि-व्यवस्था आदि की चर्चा करते हुए कहते हैं कि घ, ध, भ जैसी ध्वनियाँ सिर्फ संस्कृत की मूलभूमि भारत की हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि संस्कृत को ही मूल भाषा माना जाये, यह आग्रह यहाँ अभीष्ट नहीं है। इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए उनका कहना है कि जब आधुनिक हिंदी, गुजराती आदि के ज्ञान से संस्कृत का उद्धार किसी अ-संस्कृतज्ञ के लिए सम्भव नहीं है, तो फिर देशकाल, जाति अथवा समाज के भेद से भिन्न, ग्रीक आदि के ज्ञान से उन सबकी अविदित जननी का उद्धार किस प्रकार हो सकता है। पाण्डे ने इस बात पर बल दिया है कि भारोपीय भाषाओं में संस्कृत एक मात्र ऐसी भाषा है जिसका साढ़े तीन हजार वर्षों से अधिक का रूप और इतिहास ज्ञात है।

पाण्डे के मतानुसार उपलब्ध सूचनाओं एवं तथ्यों को आधार बनाकर पुरातात्विक दृष्टि से आर्यों की पहचान भाषा से ही हो सकती है। भाषारहित भौतिक संस्कृति से उनकी पहचान नहीं हो सकती। वे आर्यों के एक लड़ाकू और असभ्य जाति होने धारणा पर कहते हैं कि वेद किसी लड़ाकू, बर्बर जाति का प्रतिनिधित्व नहीं करते। दरअसल, आर्य-अनार्य, आर्य-द्रविड़ आदि प्रभेदों को उजागर करने के पीछे वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता पर राजनीतिक उद्देश्यों की छाया पड़ी है। वेदों का अर्थ एवं उसकी सामाजिक व्याख्या मुख्यतः भारतीय पुरातत्व और इतिहास पर निर्भर करती है। इसके साथ ही साथ आर्य जाति के विषय में प्रचलित विचारों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए उन्होंने दावा किया है कि ईरानियों द्वारा 'ऐर्य' और 'एरानवेजन' शब्दों के प्रयोग पर आधारित कल्पनाशीलता का पता चलने पर भी यह साबित नहीं होता कि वह वैदिक जनों के लिए स्वीकार्य थी। यह भी सिद्ध नहीं होता कि आर्य जन-विशेष या प्रजाति-विशेष का नाम था, न ही इससे वैदिक आर्यों के प्रजननात्मक इतिहास ही पता चलता है। पाण्डे के अनुसार कम से कम भारतीय

आर्यों में जातिवाचक आर्य का असंदिग्ध प्रयोग नहीं मिलता। उनकी यह भी मान्यता है कि कि मानव-प्रजातीय स्तर पर आर्य-दास की कल्पना अ-सिद्ध है।

हड़प्पा की भाषा के द्रविड़ होने की अवधारणा के संबंध में वे कहते हैं कि जो बात निश्चित रूप से पता है वह इतनी ही है कि ऐतिहासिक युग में द्रविड़ समुदाय सुदूर दक्षिणी जनपद के थे। हड़प्पा-सभ्यता के लोगों के आर्य या अनार्य होने के संबंध में उनका कहना है कि इस तरह की युक्तियों में प्रायः सभी संदिग्ध हैं और इसलिए अग्राह्य हैं। उनके अनुसार इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है कि एक ही सभ्यता का पौर-पक्ष सैंधव सभ्यता में परिगणित है और उसका आध्यात्मिक-आरण्य पक्ष वैदिक

संस्कृति में। गोविंद चंद्र पाण्डे को यह मानने में कोई अड़चन नहीं दिखती कि प्रागैतिहासिक काल से आर्यजन एक विस्तृत प्रदेश में सजातीय बोलियाँ बोलते हुए संचरण करते थे। इस प्रदेश का विस्तार सिंधु से वंक्षु और वंक्षु से वोल्गा तक माना जा सकता है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. गोविंदचंद्र पाण्डे (1999), *इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत*, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.
2. भगवान सिंह (2011), *प्राचीन भारत के इतिहासकार*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय



गोविंद चंद्र पाण्डे (1923-2011)

गोविंद सदाशिव घुर्ये

(Govind Sadashiv Ghurye)

गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893-1984) भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख संस्थापकों में से एक थे। भारत की एकता के लिए उसकी सांस्कृतिक एकरूपता पर बल देते हुए उन्होंने प्राचीन हिंदू-धर्मशास्त्रों और संस्कृत-ज्ञान के आधार पर भारतीय समाज का विश्लेषण किया। घुर्ये का समाजशास्त्र खास तरह के राष्ट्रवाद की धारा का वाहक था जिसमें विविधता के बजाय देश की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकता के लिए व्यापक हिंदू समाज में सभी अन्य धर्मों और स्थानीय अस्मिताओं के विलोपन का तर्क दिया गया था। किसी अन्य धर्म से हिंदू-संस्कृति के मेलजोल और स्वातंत्र्योत्तर भारत द्वारा अपनाये गये धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों से उनकी मान्यताओं का विरोध स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लेकिन इन विचारधारात्मक प्रवृत्तियों के बावजूद समाजशास्त्र में घुर्ये का योगदान बहुमुखी था। उन्होंने जातियों और जनजातियों की मानवशास्त्रीय व्याख्या की, सामाजिक तनाव के विभिन्न रूपों का संधान किया और भारतीय समाज में साधुओं के योगदान पर प्रकाश डाला। घुर्ये की इतिहास में गहरी रुचि थी जिससे उनका समाजशास्त्रीय लेखन काफ़ी प्रभावित हुआ। वे मुख्यतः पश्चिमी विद्वानों द्वारा खड़े किये गये भारत-विद्या (इण्डोलॉजी) और प्राच्यविद्या (ओरिएंटलिज़म) के ज्ञानानुशासनों से प्रभावित थे। उपनिवेशवाद के दौर में प्राचीन यूनान तथा मिस्र की सभ्यताओं से परिचित होने के बाद अंग्रेज़ और जर्मन विद्वानों ने भारत की प्राचीन सभ्यता पर अनुसंधान की शुरुआत कर दी थी। इसका प्रभाव समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन और साहित्य आदि की सभी शुरुआती संरचनाओं पर पड़ा। घुर्ये के शोध और विमर्श ने भी हिंदू-धर्म, रीति-रिवाज और वैदिक संस्कृति के अध्ययन में इसी सिलसिले को प्रमुखता प्रदान की। इंग्लैण्ड डब्ल्यू.एच.आर.रिवर्स जैसे प्रख्यात मानवशास्त्री से घुर्ये काफ़ी प्रभावित थे। तीस के दशक में लिखी गयी उनकी पुस्तक *क्रास्ट ऐंड रेस इन इण्डिया* को बड़े स्तर पर सराहा गया।

घुर्ये के साहित्य का अध्ययन करने से लगता है कि वे स्थानीय जीवन व ग्रामीण संस्कृतियों का अध्ययन करने के स्थान पर एक वृहद व समग्र सिद्धांत विकसित करना चाहते थे। अनुभव पर आधारित सूक्ष्म व स्थानीय के अध्ययन के स्थान पर वे समष्टिगत विशाल अध्ययनों में अधिक रुचि लेते थे। जनजातियों के अपने अध्ययन में भी उन्होंने समग्र एकीकृत हिंदू धर्म के प्रभाव और नज़रिये से उनके बारे में मान्यताएँ प्रस्तुत कीं। बाद में गाँवों और स्थानीय समाजों के

अध्ययन की बढ़ती समाजशास्त्रीय प्रवृत्ति के असर में उन्होंने भी 1957 में महाराष्ट्र के पुणे जिले के लोनीकाण्ड गांव की सामाजिक संरचना और राजनीतिक-धार्मिक प्रवृत्तियों का अध्ययन भी किया। लेकिन सभ्यता व पुरातन संस्कृति के विशाल रूपों, सर्वसमावेशी मूल्यों और बृहद अस्मिता ही हमेशा उनके अध्ययन की कसौटी बनी रही।

क्रास्ट ऐंड रेस इन इण्डिया में घुर्ये ने भारतीय समाज के एकीकरण के परिप्रेक्ष्य में जातियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। दुनिया के अन्य समाजों को अध्ययन की परिधि में शामिल कर उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि भारत की जाति और नातेदारी व्यवस्था जैसी ही स्थिति अन्य देशों में भी है। नातेदारी की व्यवस्था और जाति-संरचना की परस्पर निर्भरता पर भी उन्होंने रोशनी डाली। उन्होंने जाति के धर्मशास्त्रीय पक्ष पर विशेष जोर दिया और इस संदर्भ में ब्राह्मणों की उस भूमिका की सराहना की जिसके तहत जातियों के अंतर्विवाह तथा सहभोज के बारे में अनुष्ठान संबंधी कई निर्देश दिये गये हैं। घुर्ये हल्के-फुल्के संशोधनों के साथ प्राच्यविदों के इस मत से सहमत थे कि इण्डो-आर्यन प्रजाति ढाई हजार ईस्वी पहले आयी थी और वैदिक धर्म व ब्राह्मणों की श्रेष्ठता से इसी प्रजाति का संबंध है। गंगा के मैदानों में विकसित इसी संस्कृति से जाति-व्यवस्था का प्रादुर्भाव और ब्राह्मणों व अन्य निम्न जातियों का गठन हुआ। घुर्ये की यह भी मान्यता थी कि जाति-प्रथा तथा उससे जुड़े कई अनुष्ठानों व नियमों से समाज में अलगाव नहीं, बल्कि व्यापक स्तर पर सामूहिकता, सामाजिक एकीकरण व समष्टि-भाव उत्पन्न हुआ।

घुर्ये की इन मान्यताओं का एक सिरा विसरणवाद (डिफ्यूज़न) के सिद्धांत से भी जुड़ता है। इस उसूल के तहत माना जाता था कि उच्चतर सभ्यताएँ विकसित होकर अन्य क्षेत्रों को प्रभावित करती हैं। इसीलिए घुर्ये निम्न-जातियों, आदिवासियों और अन्य प्रजातियों की तुलना में आर्य-प्रजाति की उत्कृष्टता के सिद्धांत के हिमायती थे। आज घुर्ये की ये मान्यताएँ विवादास्पद हो चुकी हैं, क्योंकि भारत की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में जातियों की नकारात्मक भूमिका पर काफ़ी तीखे विमर्श विकसित हो चुके हैं। पर घुर्ये, जो स्वयं सारस्वत ब्राह्मण थे, के जमाने में भारतीय व हिंदू समाज में परिवर्तन के स्थान पर परम्परा की निरंतरता पर अधिक बल था।

भारत में जाति की भूमिका का घुर्ये ने जाति-सभाओं के उदय तथा विकास के संदर्भ में भी अध्ययन किया। उनका पूर्वानुमान यही था कि जातियों की स्वैच्छिक सभाएँ शिक्षा व सुधार के कार्यों को आगे बढ़ाएँगी और अपनी जाति के सदस्यों को राजनीतिक लाभ व रियायतें दिलाने की दिशा में सक्रिय होंगी। उनका खयाल था कि जिस क्रिस्म की



गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893-1984)

राजनीतिक व्यवस्था का भारत में विकास हो रहा है, उसमें जाति-सभाएँ ही लोगों की आकांक्षाएँ व्यक्त करने की भूमिका निभाएंगी। घुर्ये के ये पूर्वानुमान गलत साबित नहीं हुए। राजनीति-विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने जाति-सभाओं, लोकतंत्र तथा सामाजिक सशक्तीकरण के अंतर्संबंधों को इसी धरातल पर समझने का प्रयास किया है।

हिंदू जाति व्यवस्था और वैदिक विश्वासों के प्रति विशेष आग्रह का प्रभाव घुर्ये द्वारा किये गये जनजातियों के अध्ययन पर भी दिखता है। उन्होंने जनजातियों के सांस्कृतिक तथा सामाजिक पक्ष पर शोध करते हुए ही इस निष्कर्ष को स्थापित किया कि भारतीय जनजातियाँ अगर हिंदू समाज से पूरी तरह एकीकृत हो जाएँ, तो उनके पिछड़ेपन की समस्या का हल निकल सकता है। उनका स्पष्ट कहना था कि आदिवासियों को अनुसूचित जनजाति न कहकर पिछड़े हिंदू ही कहना चाहिए और हिंदू मूल्यों-प्रतिमानों के अंतर्गत उन्हें हिंदू वर्ण व्यवस्था की निम्न जातियों में सम्मिलित कर लेना चाहिए। वे दक्षिण-मध्य भारत की जनजातियों, जैसे संधाल, भील व गोंड द्वारा हिंदू आस्थाएँ और मूल्य अपनाये जाने से विशेष उत्साहित थे और पूरे देश में यही प्रक्रिया घटित होते देखना चाहते थे। इस प्रकार मुख्यधारा की संस्कृति में ब्राह्मणों व हिंदू परम्पराओं को मुख्य घटक मानने के कारण घुर्ये ने आदिवासियों को कोई स्वतंत्र अस्मिता देने का विरोध किया। उनकी दृष्टि में हर प्रकार के अलगाववाद का समाधान यही था कि सभी गैर-हिंदू अस्मिताओं का हिंदूकरण हो जाए।

उत्तर-पूर्व की जनजातियों के अलगाववाद का हवाला देकर उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि अगर किसी सांस्कृतिक एकरूपता की परियोजना को गम्भीरता से नहीं लिया गया तो देश की राजनीतिक एकता के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस पूरे निष्कर्ष की विडम्बना यह थी कि इसके तहत जनजातियों के भीतर घटित हो रहे बहुत से धर्मनिरपेक्ष बदलावों, जैसे शराब न पीने का आग्रह, कई अंधविश्वासों का त्याग, शिक्षा में रुचि, कृषि के विकसित साधनों का इस्तेमाल आदि को भी उनके हिंदूकरण के संकेतों के रूप में पढ़ा तथा प्रस्तुत किया गया।

हिंदुओं व जनजातियों के संबंधों में हिंदू-पक्ष की वर्चस्वशाली भूमिका प्रस्तुत करने के साथ-साथ हिंदुओं और मुसलमानों के संबंधों की व्याख्या में भी घुर्ये ने इसी नजरिये का इस्तेमाल किया। ब्राह्मण व आर्य संस्कृति की उत्कृष्टता पर केंद्रित सोच के कारण ही वे मुसलमानों को हिंदुओं से पूरी तरह पृथक ऐसा धार्मिक समुदाय मानते थे जिनके मध्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान की सम्भावनाएँ न के बराबर हैं। राष्ट्रीय एकता में वे मुसलमानों से यही अपेक्षा करते थे कि वे हिंदुओं में पूरी तरह स्वयं को विलीन कर लें और किसी प्रकार की सुरक्षा या अधिकार का अपना दावा हमेशा के लिए त्याग दें। भारतीय कला तथा वास्तुकला संबंधी अध्ययन में भी घुर्ये ने अपने इन पूर्वग्रहों नहीं छिपाया। उन्होंने कला को मुख्यतः हिंदू विचारधारा की अभिव्यक्ति के रूप में देखा और कला के स्तर पर मुसलमानों से किसी भी मेलजोल को नकारा। मसलन, राजस्थानी कलाओं पर इस्लामी प्रभावों के स्थान पर वे राजपूती कला-आदर्शों की विशेष तौर पर सराहना करते थे। उन्होंने भारतीय कलाओं को वेदों, पुराणों तथा महाकाव्यों पर आधारित माना।

भारतीय परम्परा में साधुओं की भूमिका पर भी उन्होंने 1953 में *इण्डियन साधुज* नामक पुस्तक लिखी थी जिसमें भारतीय समाज में साधुओं का योगदान रेखांकित किया गया। घुर्ये ने धार्मिक विवादों में मध्यस्थता, धर्मशास्त्रों के अध्ययन व संरक्षण, बाहरी हमलों से धर्म की रक्षा का तर्क दे कर साधुओं की सराहना की है। इस बहाने उन्होंने संन्यास की अवधारणा पर विचार करते हुए स्थापना दी है कि संन्यास लेने वाले शंकराचार्य तथा अन्य शैव व वैष्णवमार्गी साधुओं ने ही हिंदुओं का मार्गदर्शन किया। उन्होंने आधुनिक काल के स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती तथा अरविंद घोष के योगदान को भी हिंदू साधु-परम्परा में स्थान दिया है। इस प्रश्न में उन्होंने लगभग कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई है कि साधुओं के अनाचार, मठशाही, हिंसा तथा परजीविता का समाज पर कोई नकारात्मक प्रभाव पड़ा या नहीं।

घुर्ये का एक अन्य योगदान भारत में ग्रामीण-

शहरीकरण से संबंधित है। इस विषय पर इनकी पुस्तक 1962 में *एनाटमी ऑफ अर्बन कम्युनिटी* के नाम से प्रकाशित हुई थी। पुस्तक में उन्होंने साबित किया कि भारत में पारम्परिक शहरीकरण ग्रामीण अर्थव्यवस्था का ही विस्तार रहा है और उसका संबंध उद्योगीकरण से नहीं है। ग्रामीण कृषि व्यवस्था से पैदा अनाज के लिए बड़ी मण्डियों की आवश्यकता थी और इस जरूरत ने ही शहरों का निर्माण किया। बाद में प्रशासन, न्याय, पुलिस आदि की संस्थाएँ विकसित होती चली गयी। ब्रिटिश काल के बाद ही यह सम्भव हुआ कि भारत के छोटे-बड़े शहरों में बड़े पैमाने पर उत्पादन आरम्भ हो गया और ग्रामीण क्षेत्र कच्चा माल पैदा करने वाले क्षेत्रों में तब्दील हो गये। पहले जहाँ गांवों की अर्थव्यवस्था से शहर संचालित होते थे, वहीं धीरे-धीरे शहरीकरण प्रधान हो गया और गाँव उसकी ज़द में चले गये।

घुर्ये आज के सेकुलर, बहुभाषिक और बहुआयामी लोकतंत्र के दौर में विवादास्पद विचारक हैं। उनके दिखाये रास्ते पर अधिकांश समाजशास्त्री नहीं चलते हैं। लेकिन उनकी रचनाएँ पढ़ कर यह ज़रूर जाना जा सकता है कि हिंदू-राष्ट्रवादी समाजशास्त्र किस प्रकार परम्परा के भीतर रचनात्मकता के स्रोतों का उत्खनन करता है।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. गोविंद सदाशिव घुर्ये (1986), *क्रास्ट ऐंड रेस इन इण्डिया*, पापुलर प्रकाशन, बम्बई.
2. ए.आर. मोमिन (सम्पा.) (1996), *द लीगेसी ऑफ जी.एस. घुर्ये : अ सेंटेंनियल फ्रेस्टशिफ्ट*, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई.
3. एस.के. प्रमाणिक (1994), *सोशियॉलॉजी ऑफ जी.एस. घुर्ये*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर.
4. एस. देवदास पिल्लई (1997), *इण्डियन सोशियॉलॉजी थ्रू घुर्ये : अ डिक्शनरी*, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई.

— वैभव सिंह

गोवा

(Goa)

भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित राज्य गोवा पहले पुर्तगाली उपनिवेश था जिसका 1961 में भारतीय सेना की कार्रवाई के बाद भारत में विलय हुआ। अपने खूबसूरत समुद्र तटों के कारण सारी दुनिया के पर्यटकों को आकर्षित करने वाले गोवा की राजनीति को दो चरणों में समझा जा सकता है। पहला दौर वह जब गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ था, और दूसरा दौर वह जब 1987 में पूर्ण राज्य का दर्जा मिला। 1999 के विधानसभा चुनावों के बाद से इस राज्य में स्थानीय दलों के प्रभाव में कमी आती जा रही है और राष्ट्रीय दलों का दबदबा बढ़ता जा रहा है। नब्बे के दशक में यहाँ कांग्रेस या कांग्रेस से टूट कर अलग हुए धड़ों की सरकारें रहीं। कई बार भारतीय जनता पार्टी ने भी कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखने के लिए ऐसी सरकार को समर्थन दिया। मसलन, भाजपा ने 1999 में इसने कांग्रेस से टूट कर बनी गोवा पीपुल्स कांग्रेस के नेता फ्रैंसिस्को सारडिन्हा की सरकार बनाने में मदद की। लेकिन 2000 के बाद ऐसे दलों का प्रभाव लगातार कम होता गया। परिणामस्वरूप 2007 के चुनावों में महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी (एमजीपी) को मात्र दो सीटें ही मिलीं। इसी तरह 2009 के लोकसभा चुनावों में भी राज्य की दोनों सीटों को कांग्रेस और भाजपा ने आपस में बाँट लिया। नब्बे के दशक की राजनीतिक अस्थिरता के बाद राष्ट्रीय पार्टियों का प्रभाव बढ़ने के कारण 2000 के बाद की राजनीति में एक तरह की स्थिरता देखी जा सकती है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि नब्बे के दशक के बाद के गोवा की राजनीति में भाजपा का उभार एमजीपी के आधार-वोटों पर कब्जा करने से हुआ, लेकिन पड़ोसी राज्य गुजरात की तरह उसने गोवा में उग्र हिंदुत्व की राजनीति का सहारा नहीं लिया।

पणजी गोवा की राजधानी है। वास्को डी गामा इसका सबसे बड़ा शहर है। इसके उत्तर में महाराष्ट्र, पूर्व और दक्षिण में कर्नाटक और पश्चिम में अरब सागर स्थित है। गोवा का क्षेत्रफल 3,702 वर्ग किमी है और इस दृष्टि से यह भारत का सबसे छोटा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार गोवा की जनसंख्या 1,457,723 है और इस आधार पर यह भारत का पच्चीसवाँ सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ की कुल साक्षरता दर 87 प्रतिशत और एक हजार पुरुषों पर 968 महिलाएँ हैं। गोवा की विधायिका एकसदनीय है और यहाँ की विधानसभा में कुल चालीस सदस्य होते हैं। मुम्बई उच्च न्यायालय ही गोवा का उच्च न्यायालय है जिसकी एक पीठ पणजी में स्थित है। गोवा से लोकसभा के दो और राज्यसभा के लिए एक सदस्य



गोवा : 1961 में पुर्तगाली उपनिवेशवाद से आजादी

चुना जाता है। यहाँ की आधिकारिक भाषा कोंकणी है, लेकिन हर तहर के सरकारी काम के लिए मराठी के उपयोग की इजाजत भी दी गयी है। 2001 की जनगणना के अनुसार गोवा की 65 प्रतिशत आबादी हिंदू, 26 प्रतिशत ईसाई, 6 प्रतिशत मुसलिम, 0.07 प्रतिशत सिक्ख, 0.04 प्रतिशत बौद्ध, 0.06 प्रतिशत जैन धर्मावलम्बी हैं।

पुर्तगालियों ने 1510 में बीजापुर के शासक को हराकर वेल्ला (या पुराने गोवा) को अपने अधीन कर लिया। 1843 में वेल्ला गोवा की जगह पंजिम को इसकी राजधानी बना दिया गया। अठ्ठारहवीं सदी के मध्य तक पुर्तगालियों के कब्जे में वर्तमान गोवा राज्य के अधिकतर भाग आ गये थे। 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के बाद पुर्तगाल ने गोवा को आजाद करने या इसे भारत को सौंपने से इनकार कर दिया। 19 दिसम्बर, 1961 को भारतीय सेना ने ऑपरेशन विजय के द्वारा गोवा तथा दमन और दीव को भारतीय संघ में मिला लिया। इसके बाद, गोवा तथा दमन और दीव को एक साथ भारतीय संघ का एक केंद्र-शासित प्रदेश बना दिया गया। 30 मई, 1967 को इस प्रदेश को विभाजित करके गोवा को भारत का इक्कीसवाँ राज्य बनाया गया तथा दमन और दीव पहले की तरह केंद्र-शासित प्रदेश रहे।

गोवा की राजनीति में पुर्तगाली उपनिवेशवाद का प्रभाव अब भी मौजूद है। इसने गोवा की राजनीति में विरोधाभासी विखण्डित पहचानों को बढ़ावा दिया है। इसने

गोवा को ओल्ड कांक्वेस्ट और न्यू कांक्वेस्ट में विभाजित किया। भौगोलिक रूप से यह विभाजन पुर्तगालियों ने ही किया था। उन्होंने उन इलाकों को ओल्ड कांक्वेस्ट कहा जो सत्रहवीं सदी से पहले उनके अधिकार में आये थे, और जिन क्षेत्रों पर सत्रहवीं सदी के बाद उनका कब्जा हुआ उसे उन्होंने ओल्ड कांक्वेस्ट की संज्ञा दी। पुर्तगाली उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद गोवा की राजनीति में दो अलग-अलग धाराएँ उभरीं हैं। एक ओर वे लोग हैं जिन्होंने गोवा की अनूठी पहचान पर जोर दिया, तो दूसरी ओर वे लोग हैं जो इस तरह की बातों को निहित स्वार्थी तत्त्वों का दिखावा करार दिया। इन दो अलग-अलग विचारों के कारण गोवा में 1963 में हुए पहले आम चुनावों में दो क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उभार हुआ। पहला दल था महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी (एमजीपी) और दूसरा था यूनाइटेड गोवन्स पार्टी (यूजीपी)। एमजीपी ने गोवा को एक अलग और पूर्ण राज्य का दर्जा दिये जाने की माँग की। एमजीपी का प्रभाव न्यू कांक्वेस्ट के इलाकों में था और इसे हिंदुओं का समर्थन हासिल था। दूसरी ओर, यूजीपी का प्रभाव ओल्ड कांक्वेस्ट इलाकों में था। शुरुआत में इसे ईसाई भू-स्वामियों का समर्थन था। बाद में ऊँची जातियों के कुछ हिंदुओं ने भी इसे समर्थन देना शुरू कर दिया। पहचान का मुद्दा इतना विवादास्पद हो गया कि भारत सरकार ने जनवरी, 1967 में राज्य के भविष्य के बारे में फ़ैसला करने के लिए एक जनमत-संग्रह करवाया जिसमें लोगों ने महाराष्ट्र से विलय के प्रस्ताव को नकार दिया। इसकी जगह उन्होंने एक केंद्र-शासित प्रदेश के रूप में गोवा की अलग पहचान क्रायम रखने का समर्थन दिया।

1963-1979 के बीच गोवा की राजनीति को एक अच्छी द्वि-दलीय व्यवस्था का उदाहरण माना जा सकता है। इस दौर में एमजीपी की सरकार रही और यूजीपी ने रचनात्मक विपक्ष की भूमिका निभायी। इस अवधि में राजनीति मुख्य रूप से पहचान, भाषा, विलय, अलग राज्य जाति और धर्म जैसे मुद्दों पर केंद्रित रही। एमजीपी के शासन के दौरान ही इस पार्टी के भीतर व्यक्तिवादी और अलोकतांत्रिक क्रिस्म राजनीतिक हावी हो गयी। इसके अलावा एमजीपी और यूजीपी ने एक-दूसरे के विधायकों-नेताओं को तोड़ने की भी कोशिश की। नतीजा यह निकला कि 1979 में एमजीपी के 16 विधायकों ने पार्टी छोड़ दी। यह राज्य में क्षेत्रीय दलों के वर्चस्व के अंत की शुरुआत भी थी। इसके पहले ही 1976 में यूजीपी का एक बड़ा गुट ए.बी. नाइक के नेतृत्व में कांग्रेस (एस) से मिल गया था जो बाद में कांग्रेस (यू) से मिला जिसका बाद में कांग्रेस (आई) में विलय हो गया। 1980 के चुनावों में एमजीपी की हार हुई और कांग्रेस सत्ता में आयी जिसमें इसमें यूजीपी और एमजीपी के कई नेता शामिल हो चुके थे। कांग्रेस ने प्रताप सिंह राणे

को प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाया। इस स्थिति से असंतुष्ट होकर यूजीपी से कांग्रेस में आये नेता विल्फ्रेड डिसूजा ने 1983 में कांग्रेस छोड़ दी और गोवा कांग्रेस का गठन किया। बरहाल, विपक्ष के कमजोर होने के कारण राज्य की राजनीति में कांग्रेस की स्थिति मजबूत होती गयी। 30 मई, 1987 को में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया। विधानसभा के सदस्यों की संख्या 30 से बढ़ा कर 40 कर दी गयी। नये राज्य के गठन के बाद गोवा में 'आया-राम गया राम' यानी दल या दल के भीतर गुट बदलने की राजनीति में तेजी आयी। राजनीतिक अस्थिरता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि 1987 में पूर्ण राज्य बनने के बाद से 2011 तक गोवा में कुल 16 सरकारों का गठन हो चुका था। इनमें सात सरकारें दो साल से भी कम समय के लिए सत्ता में रहीं, जबकि एक सरकार सिर्फ दो दिन के लिए सत्ता में रही। विभिन्न पार्टियों के बड़े नेताओं की आपसी कलह से लोग इतने तंग आ चुके थे कि 1999 के चार महीनों के राष्ट्रपति शासन को 'प्रशासन के स्वर्णकाल' की संज्ञा मिल गयी।

बहरहाल, 2000 के बाद का दौर गोवा के लिए तुलनात्मक रूप से स्थिरता का दौर रहा है। 2000-05 के बीच भारतीय जनता पार्टी के मनोहर परिवर्कर राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद 2005 में दो दिनों के लिए कांग्रेस के प्रताप सिंह राणे मुख्यमंत्री बने और फिर दो महीनों के लिए पारिवर्कर को मौका मिला। इसके बाद राज्य में जून 2005 से लेकर 2007 तक राष्ट्रपति शासन रहा। 2007 में हुए चुनावों में कांग्रेस को अपने दम पर बहुमत नहीं मिला। लेकिन वह 16 सीटों के साथ सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। कांग्रेस ने राष्ट्रवादी कांग्रेस और अन्य छोटे दलों के सहयोग से सरकार बनायी। दिगम्बर कामत 2007 में राज्य के मुख्यमंत्री बने। इनके कार्यकाल में राजनीतिक स्थिरता रही।

नब्बे के बाद के गोवा की राजनीति में भारतीय जनता पार्टी की स्वीकार्यता और प्रभाव में भी धीरे-धीरे बढ़ोतरी हुई। 1994 में इसने एमजीपी के साथ मिलकर चुनाव लड़ा। दरअसल, एमजीपी को उम्मीद थी कि भाजपा की उग्र हिंदुत्व राजनीति से उसे फ़ायदा होगा, लेकिन दरअसल ऐसा नहीं हुआ। भाजपा ने नरम हिंदुत्व की राजनीति अपनाते हुए धीरे-धीरे अपना विस्तार किया। इसी का नतीजा हुआ कि 2000 में इसकी सरकार बनी। फिर 2002 के चुनावों के बाद भी मुख्यमंत्री पद भाजपा के हाथ ही में रहा। भाजपा को यहाँ अपने दम पर बहुमत तो नहीं मिला, लेकिन उसने राज्य की राजनीति में अपनी मजबूत पैठ बना ली। 2007 के विधानसभा चुनावों में इसे कांग्रेस से सिर्फ दो सीटें कम मिलीं। कांग्रेस को 16 और भाजपा को 14 सीटों पर जीत मिली। 2012 के चुनावों में भाजपा ने 21 सीटें जीत कर पूर्ण बहुमत हासिल किया और मनोहर परिवर्कर के हाथ में राज्य की बागडोर सौंपी।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडिशा, कर्नाटक, केरल, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, बिहार, पंजाब, पश्चिम बंग, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, राजस्थान, हरियाणा।

संदर्भ

1. पीटर रॉनल्ड डिसूजा (1999), 'प्रेग्मेटिक पॉलिटिक्स इन गोवा', 1987-99' *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड, अंक 34-35.
2. मारिया डू सीयू रॉड्रिगज़ और सोलानो डिसिल्वा, (2009), 'गोवा : अ फ़ैक्चर्ड वडिक्ट', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव, *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस इन 2002 ऐंड बियांड*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. गवर्नमेंट ऑफ़ गोवा (2001), *स्टैटिस्टिकल हैंडबुक ऑफ़ गोवा*, पणजी-गोवा, डायरेक्टोरेट ऑफ़ प्लानिंग, स्टैटिक्स ऐंड इवेल्यूशन.

— कमल नयन चौबे

ग्योर्गी लूकाच

(Gyorgy Lukacs)

बीसवीं सदी के मार्क्सवादी चिंतकों में ग्योर्गी लूकाच (1885-1971) एक अलग मक़ाम रखते हैं। उन्होंने पश्चिमी यूरोप में विकसित हुए उस मार्क्सवाद के विकास को गहराई से प्रभावित किया जिस पर हीगेल के दर्शन की गहरी छाप थी। ग्राम्शी की तरह लूकाच ने संघर्ष की राजनीति में भी शिरकत की और दर्शन, सौंदर्यशास्त्र और साहित्य-सिद्धांत जैसे रचनात्मक क्षेत्रों को अपने परिष्कृत योगदान से समृद्ध किया। मार्क्सवाद के बृहतर विमर्श में उनकी प्रतिष्ठा एक ऐसे चिंतक की है जिसने न केवल मार्क्सवाद की मूल अवधारणाओं का नयी दिशाओं में विकास किया बल्कि उनके मर्म को लेकर सोवियत ख़ेमे के जड़सूत्रवादी सिद्धांतकारों से मुठभेड़ भी की। कई विद्वानों का मानना है कि मार्क्सवाद के सोवियत व्याख्याकारों से जूझते हुए लूकाच ने जिन प्रस्थापनाओं की पेशबंदी की उन्हीं की बदौलत मार्क्सवाद का एक नया संस्करण वेस्टर्न मार्क्सिजम या पश्चिमी मार्क्सवाद के तौर पर जाना गया। लूकाच का बौद्धिक जीवन तीन चरणों से गुज़रा : शुरुआती दौर उनका परिप्रेक्ष्य आधुनिकतावादी और प्रत्यक्षतावाद विरोधी था। इस दौरान उन पर प्लेटो, कांट, कीर्केगार्ड और हीगेल का मिला-जुला प्रभाव रहा। वे जॉर्ज सोरेल द्वारा प्रतिपादित अनार्को-सिंडिकलिज़म के प्रति भी आकर्षित हुए। 1911 में प्रकाशित *सोल ऐंड फ़ॉर्म* को इसी



ग्योर्गी लूकाच (1885-1971)

दौर की रचना माना जा सकता है। प्रथम विश्व-युद्ध की घटनाओं और बोलशेविक क्रांति के प्रभाव में उन्होंने अपने विचारों को फिर से जाँचा और मार्क्सवादी बने। उनका तीसरा दौर वह है जब उन्होंने साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में हस्तक्षेप करते हुए समाजवादी यथार्थवाद का सैद्धांतिक ढाँचा खड़ा किया। 1916 में प्रकाशित उनकी कृति *द थियरी ऑफ़ द नॉवेल* हीगेलियन सौंदर्यशास्त्र के दृष्टिकोण से रची गयी है। लेकिन 1922 में प्रकाशित *हिस्ट्री ऐंड क्लास कांशसनेस* मार्क्सवादी दर्शन के दायरों में एक महान रचना की हैसियत रखती है।

ग्योर्गी लूकाच का जन्म बुडापेस्ट, हंगरी में हुआ था। उनके पिता एक इन्वेस्टमेंट बैंकर थे। उन्होंने बुडापेस्ट और बर्लिन विश्वविद्यालयों से शिक्षा ग्रहण की। 1906 में उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि मिली। लूकाच के कृतित्व को सहूलियत के लिहाज़ से राजनीतिक और साहित्यिक लेखन के खानों में रखा जा सकता है। लेकिन वे राजनीतिक दर्शन, सौंदर्यशास्त्र, साहित्य के सिद्धांतों और आलोचना के बीच इस तरह आवाजाही करते हैं कि उन्हें किसी एक खिते या अनुशासन तक सीमित नहीं किया जा सकता। उनका समूचा कृतित्व एक तरह से क्रांति के सरोकारों का अनुषंग माना जा सकता है। लूकाच की शिखरियत संघर्ष और रचना का उदाहरण है। आम तौर पर सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा आरोपित सीमाओं में काम करने के बावजूद उन्होंने मार्क्सवाद का एक ऐसा पक्ष भी रचा जो उनके सोवियत सहधर्मियों की नज़र में कुफ़्र से

कम नहीं था। पहले विश्व-युद्ध के बाद हंगरी की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता लेने, और वहाँ की अल्पजीवी कम्युनिस्ट सरकार (1918) में शिक्षा और संस्कृति का मंत्रालय सम्भालने तथा कम्यून के पतन के बाद लम्बे समय तक निर्वासन में रहे लूकाच 1945 में स्वदेश लौट सके। लेकिन चिंतन और राजनीतिक कर्म के लिहाज़ से उनका यह काल बेहद रचनात्मक रहा। इस दौरान उन्होंने *हिस्ट्री ऐंड क्लास कांशसनेस* जैसे क्लासिक ग्रंथ की रचना की और 1928 में ब्लम थीसिस पेश की जिसमें फ़्रासीवाद के विरुद्ध एक लोकतांत्रिक मोर्चा गठित करने की योजना रखी गयी थी। लूकाच की इस पेशकश को तत्काल तो नकार दिया गया लेकिन नौ साल बाद की परिस्थितियों में एक ऐसे ही प्रस्ताव को अधिकारिक तौर पर स्वीकार किया गया।

मार्क्सवादी दर्शन में घोषित आस्था और उससे निर्देशित राजनीतिक सक्रियता के बावजूद उन्होंने खुद को जड़सूत्रवादी आग्रहों से अलग रखा। एक राजनीतिक-सामाजिक चिंतक के रूप में उन्होंने मार्क्स की महत्वपूर्ण अवधारणाओं—रीफ़्रिकेशन (लूकाच बेगानेपन के लिए इस पद का इस्तेमाल करते थे) और वर्ग चेतना पर सुचिंतित विचार करने के अलावा साहित्य में उपन्यास की विधा तथा यथार्थ चित्रण को लेकर भी मूल्यवान प्रस्थापनाएँ की।

लूकाच के निबंधों की पुस्तक *हिस्ट्री ऐंड क्लास कांशसनेस* को कई विद्वान मार्क्सवाद का रिनेसाँ मानते हैं। इस रचना में लूकाच मार्क्सवाद के भाष्य के दौरान उग आये कई जड़सूत्रों को बीनते हुए उन सिद्धांतकारों से भिड़ते हैं जिन्होंने मार्क्स की विरासत को भौतिक विज्ञान साबित करने की हठधर्मिता में व्यक्ति की भूमिका और उसकी एजेंसी को गौण कर दिया था। उल्लेखनीय है कि पांचवें कॉमिन्टर्न के अवसर पर जिन्नोवीव और बुखारिन ने लूकाच की इस किताब की बाकायदा औपचारिक भर्त्सना की थी। लेकिन सोवियत ख़ेमे के बाहर इस पुस्तक ने कोर्श, बेंजामिन और मरली-पोती से लेकर गोल्लडमैन और मार्क्यूज़े जैसे चिंतकों व साठ के दशक में उभरे छात्र आंदोलनों तक पर अपनी छाप छोड़ी।

लूकाच रूढ़िवादी मार्क्सवाद की आलोचना के क्रम में मानवीय चेतना की सर्जनात्मकता पर जोर देते हैं। वे प्राकृतिक भौतिकवाद के साथ-साथ ज्ञान के उस सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं करते जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि विचार एक तरह के बने बनाये और वस्तुनिष्ठ यथार्थ का दर्पण होता है और उसमें किसी तरह की मानसिक क्रिया या गतिविधि की कोई भूमिका नहीं होती। लूकाच ने एंगेल्स के इस सूत्रीकरण का भी खण्डन किया कि प्रकृति की तरह मानव व्यवहार भी ऐसे द्वंदात्मक नियमों से संचालित होता है जो काल से निरपेक्ष होते हैं। उन्हें यह विचार सिरे से ग़लत लगता था कि प्रकृति में किसी भी तरह की द्वंदात्मकता होती

है क्योंकि उनके मुताबिक द्वंद्वात्मकता के विधेयक तत्त्वों में व्यक्ति या अनुभव करने वाला तथा वस्तु दोनों शामिल रहते हैं। यानी द्वंद्वात्मकता में इन दोनों की अन्योन्यक्रिया मूल तत्त्व की तरह होती है, जबकि प्रकृति में किसी तरह के अनुभव में कर्ता की कोई भूमिका नहीं होती। लूकाच यह तो मानते हैं कि पूँजीवाद के गहराते अंतर्विरोध अंततः उसे पतन की ओर ले जाएँगे लेकिन साथ ही वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि वैचारिक संघर्ष के बिना केवल वस्तुनिष्ठ आर्थिक प्रक्रियाएँ ही जन चेतना का रूपांतरण नहीं कर सकती। लूकाच मानते हैं कामगारों के लिए दुनिया का अर्थ उसे गढ़ने की प्रक्रिया के दौरान ही खुलता है जबकि पुरातनपंथी मार्क्सवादियों की थोक दलील यह थी कि ज्ञान और क्रिया तथा सिद्धांत और व्यवहार एक साथ घटित होते हैं।

लूकाच रूढ़िवादी मार्क्सवाद के इस वैचारिक शॉर्टकट की इस आधार पर भी आलोचना करते हैं कि इतिहास की प्रक्रियाओं को मनुष्य के हस्तक्षेप से स्वायत्त बता कर वह मानवीय श्रम के उत्पादों का वस्तुकरण कर देता है। मार्क्स की अवधारणा पण्य-पूजा (कमोडिटी फ़ेटिशिज़्म) का विस्तार करते हुए लूकाच रीफ़्रिकेशन का विचार प्रतिपादित करते हैं। लूकाच की अर्थ-योजना में रीफ़्रिकेशन उस प्रक्रिया को इंगित करती है जिसके तहत मानवीय श्रम से सृजित होने वाले उत्पाद स्वयं एक स्वतंत्र अस्तित्व या परिघटना का रूप अख़्तियार कर लेते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य मानसिक और भौतिक स्तर पर चीजों का नियंता बनने के बजाय अपनी सर्जनात्मकता से च्युत होकर निर्वैयक्तिक शक्तियों से संचालित होने लगता है। लूकाच के मुताबिक मनुष्य का यह अमानवीकरण सबसे ज्यादा पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में होता है जो उसकी शक्ति को बाज़ार में बेचे जाने वाली वस्तुओं में तब्दील कर देती है। इस क्रम में लूकाच यह भी लक्षित करते हैं कि काम के विशेषीकरण और रेशनलाइज़ेशन के कारण फ़ैक्ट्री का अंदरूनी संगठन पूँजीवादी सामाजिक संरचना का एक छोटा प्रतिरूप बनता जाता है। यह प्रक्रिया एक ऐसे कुंठित और विखण्डित संसार को जन्म देती है जिसमें व्यक्ति समाज और इतिहास की संगति को सही परिप्रेक्ष्य में देखना भूल जाता है।

लूकाच का यह चिंतन मार्क्सवाद की उस विश्लेषण पद्धति पर आधारित है जिसमें समाज और इतिहास की एक सार्वभौम, एकल और गतिशील सम्पूर्णता के रूप में कल्पना की गयी है। और यह माना गया है कि यह सम्पूर्णता ही अपने निर्माणकारी हिस्सों की बनावट और अर्थ को निर्धारित करती है। लेकिन कई विद्वानों का कहना है कि लूकाच की इस निष्पत्ति से यह नहीं समझा जा सकता कि हमें इस सम्पूर्णता का बोध कैसे होता है। इन विद्वानों का तर्क है कि सम्पूर्णता के खण्डों का विश्लेषण करने से केवल यही उद्घाटित होता

है कि उनका सम्पूर्णता से क्या संबंध है। इस प्रसंग में लूकाच केवल यह धारणा पेश करके रह जाते हैं कि अपनी विशेष सामाजिक स्थिति के कारण सर्वहारा के पास एक खास अंतर्दृष्टि होती है। यानी सम्पूर्ण सत्य को जानने के लिए सर्वहारा का दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। विद्वानों का कहना है कि लूकाच के इस नज़रिये में एक गहरा विरोधाभास है। एक तरफ़ लूकाच यह कहते हैं कि पूँजीवाद सर्वहारा को आत्मिक और वैचारिक रूप से पंगु बना देता है तो दूसरी ओर यह मान लेते हैं कि केवल सर्वहारा का दृष्टिकोण ही इतिहास को उसकी सम्पूर्णता में आयत्त कर सकता है। यह देखना दिलचस्प है कि एक जगह लूकाच ने खुद यह प्रतिपादित किया है कि मज़दूर वर्ग की चेतना को उसके सदस्यों के विचारों या अनुभव का जोड़ या औसत नहीं माना जा सकता।

साहित्य-सिद्धांत के क्षेत्र में लूकाच की ख्याति का आधार उनकी क्लासिक रचना *द थियरी ऑफ़ द नॉवेल* है जिसमें उन्होंने एक विधा के रूप में उपन्यास के विकास का निरूपण किया है। इस रचना में लूकाच मनुष्य के ज़हन में बसी आदर्श दुनिया की कल्पना के लिए ट्रांसिडेंटल होमलैसनैस नामक पद का इस्तेमाल करते हैं। लूकाच इस पद की व्याख्या मनचाही जगह लौटने की चाहत और एक ऐसे नॉस्टेल्लिज्या के तौर पर करते हैं जिससे घिरा व्यक्ति अपनी अनुभूति और इच्छाओं को ही सबसे प्रामाणिक यथार्थ मानता है। अपने एक प्रसिद्ध निबंध में लूकाच ने काफ़्का और टॉमस मान की तुलना करते हुए आधुनिकता के चित्रण के लिहाज़ से मान को ज़्यादा बड़ा लेखक साबित किया है। अपने साहित्य-चिंतन में लूकाच ने समाजवादी यथार्थ के पक्ष में तर्कों का एक नफ़ीस तंत्र खड़ा किया है। वे इस बात पर जोर देते हैं कि यथार्थवादी चित्रण का मतलब यह नहीं होता कि रोज़मर्रा के जीवन को हूबहू रचना में उतार दिया जाए। वे प्रगतिशील कलाकार से पात्रों के निजी अनुभवों को ऐसी छवियों में ढालने की उम्मीद करते हैं जिन्हें सार्वभौमिक रूप से वैध ठहराया जा सके। इस आधार पर लूकाच बाल्जाक और स्कॉट जैसे बूज़्वा लेखकों की भी प्रशंसा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इन लेखकों ने अपनी धुंधली समझ के बावजूद अपने पात्रों के ज़रिये समय के संरचनागत द्वंद्व को अभिव्यक्त किया है।

लूकाच के साहित्य चिंतन का एक अहम पहलू यह भी है कि वे आधुनिकतावाद, अवाँगार्द, अभिव्यंजनावाद, अतियथार्थवाद आदि धाराओं को पतनशील और आत्मग्रस्त कला का नमूना मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार कला और साहित्य की इन धाराओं के रचनाकार व्यक्तिगत अनुभवों को दुनिया के वस्तुनिष्ठ सत्य से संपृक्त नहीं कर पाते। कई विद्वानों की निगाह में लूकाच की सौंदर्यशास्त्रीय प्रस्थापनाएँ स्तालिन की सांस्कृतिक तानाशाही को जायज़ ठहराने का

जतन करती दिखती हैं। उनका कहना है कि लूकाच जब यह मानते हैं कि पार्टी कभी ग़लत नहीं हो सकती तो वह असल में असहमति का दमन होता है।

देखें : आधार और अधिरचना, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रंत चेतना, बोलशेविक क्रांति, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, समाजवादी वसंत-1 से 3 तक, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. जी.एच.आर. पार्किंसन (1977), ग्योर्गी लूकाच, रॉटलेज एवं कीगन पॉल, लंदन.
2. एल. कोलाकोव्स्की (1978), मेन करंट्स ऑफ़ मार्क्सिज़्म, खण्ड 3, ब्लैकबेन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. अर्पद काडारके (1991), ग्योर्गी लूकाच : लाइफ़, थॉट ऐंड पॉलिटिक्स, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

—नरेश गोस्वामी

ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल

(Georg Wilhelm Friedrich Hegel)

ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल (1770-1831) आधुनिक जर्मन भाववाद के शिखर विचारक के रूप में जाने जाते हैं। वे अपनी पीढ़ी के सबसे प्रभावशाली दार्शनिक तो थे ही, दर्शनशास्त्र की दुनिया पर उनका असर आज भी बरकरार है। हिंदुस्तान जैसे तीसरी दुनिया के देशों में हीगेल का परिचय मूलतः उनके शिष्य और कम्युनिस्ट विचारों के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स के विचारों के ज़रिये देखने को मिलता है। इसके कारण उनके अपने दर्शन की अलग से चर्चा उतनी नहीं होती। दरअसल हीगेल की अहमियत आज भी उनके दर्शन के कुछ नायाब पहलुओं की वजह से बनी हुई है।

दर्शन की दुनिया में हीगेल का सबसे बड़ा योगदान शायद इस बात से ताल्लुक रखता है कि उन्होंने सिर्फ जर्मन दर्शन की दुनिया में ही नहीं, कुल मिलकर आधुनिक दर्शन की ज़मीन पर एक ऐसा हस्तक्षेप किया जिसने दो विरोधी

प्रवृत्तियों का संश्लेषण करते हुए नये रास्ते खोल दिये। हीगेल जिस ज़माने में लिख रहे थे उस में सत्रहवीं-अठारहवीं सदी के युरोपीय ज्ञानोदय के बुद्धिवाद से निकले बेलगाम व्यक्तिवाद और आदमी के बारे में उसके विचार के खिलाफ़ एक बड़ा विद्रोह खड़ा हो चुका था। इसका एक रूप रोमांटिसिज़्म में देखने को मिलता है। ज्ञानोदय की मूलधारा का यह ख़याल था कि आदमी एक नये क्रिस्म के वस्तुकृत (ऑब्जेक्टिफ़ाइड) वैज्ञानिक ज्ञान का ज्ञाता-कर्ता (सब्जेक्ट) है जिसका रैशनल रूप कार्यतः प्रकृति और समाज से अलग हो कर ही सामने आ सकता है। यह ख़याल एक ऐसे अंदाज़ को बढ़ावा दे रहा था जिसमें व्यक्ति अपने सामाजिक जुड़ावों से कट कर महज़ अपनी व्यक्तिकेंद्रित इच्छाओं की पूर्ति करने वाला बन कर रह जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए समाज और प्रकृति उसकी इच्छाएँ पूरी करने का ज़रिया मात्र रह जाते हैं। इसके खिलाफ़ हर्डर व कुछ अन्य दार्शनिक आदमी की एक अलग ही धारणा सामने रख रहे थे जो उसे एक मुकम्मल शै के रूप में देखती थी। इन विचारकों का मानना था कि मनुष्य को तर्क और भावना या देह और आत्मा जैसे अलग-अलग टुकड़ों में तोड़ कर देखना ग़लत है और इसी के चलते हम एक मुकम्मल और जिंदा इकाई के तौर पर उसके चरित्र को नहीं समझ पाते। इन विचारकों का मानना था कि मनुष्य का यह चरित्र उसके सांस्कृतिक व सामुदायिक जीवन से अकाथ्य ढंग से जुड़ा होता है। उसी के भीतर वह अपने वजूद को हासिल करता है।

ज्ञानोदय की मूलधारा के खिलाफ़ एक और सशक्त धारा थी जो इमैनुएल कांट के नाम के साथ जुड़ी है। कांट खुद को मूलतः प्रबोधन से जोड़ते हुए भी विशुद्ध तार्किकता और उससे जुड़े वस्तुकरण (ऑब्जेक्टिफ़िकेशन) के रुझान के आलोचक थे। इसके बावजूद, कांट के विचारों का केंद्रीय सरोकार क्योंकि आज़ादी और खुदमुख्तार कर्ता (सब्जेक्ट) की तलाश से था इसलिए वहाँ भी वही विच्छेद देखने तो मिलता है जो ज्ञानोदय की मूलधारा के विचारकों में दिखाई देता है : प्रकृति और समाज से विच्छेद, क्योंकि खुदमुख्तारी की शर्त ही यह है कि मनुष्य तमाम बंधनों और निर्भरताओं से आज़ाद हो। और इस विच्छेद से जुड़े हैं वे अन्य विच्छेद जो तर्क और भावना आदि के आधार पर इनसान का भी विभाजन कर देते हैं।

बकौल चार्ल्स टेलर हीगेल जिस महान चुनौती के रूबरू थे वह यह थी कि खुदमुख्तारी के आदर्श का परित्याग किये बिना मनुष्य के मुकम्मल वजूद को कैसे बरकरार रखा जाए। जब तक प्रकृति या कुदरत को एक अंधी, अतार्किक या तर्क-विरोधी शै के रूप में देखा जाता तब तक कुदरत और मनुष्य की आज़ादी की तलाश के बीच एक विरोध बना ही रहता है। इस नज़रिये से कुदरत के ऊपर काबू पाने और उसे



ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल (1770-1831)

अपने वश में करने में ही मनुष्य की आजादी निहित हो सकती है। समाज और व्यक्ति की आजादी के बीच भी इसी तरह का एक विरोध दिखाई देता है। लिहाजा व्यक्ति की आजादी की शर्त भी सामाजिक बंधनों से उसकी आजादी में निहित है।

कहा जा सकता है कि इन दोनों परस्पर विरोधी खयालों के बीच एक नया रास्ता निकालने के लिए हीगेल ने बौद्धिक शतरंज के इस खेल में दो चालें चलीं। पहली, एक ऐसी पद्धति की पेशकश की जिसे द्वंद्वात्मक चिंतन कहा जाता है, जिसके तहत हर विरोध दरअसल अंतर्विरोध बन जाता है, यानि दो दीगर चीजों के बीच विरोध न होकर एक ही सम्पूर्ण के आंतरिक विकास और गति का आधार बन जाता है। अंतर्विरोध अब सिर्फ दो विरोधी पक्षों का रिश्ता नहीं रह जाता बल्कि उसमें ये दोनों पक्ष एक साथ एकजैसेपन और अलहदगी के रूप में सामने आते हैं। इन दोनों पक्षों के बीच टकराव के पीछे उनका एकजैसापन भी मौजूद रहता है। लिहाजा, इन दोनों पक्षों के टकराव में कभी भी एक का दूसरे द्वारा सफ़ाया नहीं होता। हीगेल जिसे निगेशन या निषेध कहते हैं उसमें दरअसल एक जटिल प्रक्रिया (जिसे वे जर्मन में आउफ़ेबुंग कहते हैं या जिसे अंग्रेजी कभी कभी सबलेशन कहा जाता है) के जरिये एक पक्ष दूसरे को एक ही साथ खारिज भी करता है और उसकी हिफाजत भी। ऐसा उस समग्र के विकास के एक नये चरण में जा कर होता है।

खारिज पक्ष अपने पुरानी जगह में महफूज नहीं रहता बल्कि विजयी पक्ष के साथ संश्लेषण के जरिये वह एक नये मुकाम पर जा पहुँचता है। हालाँकि ऊपर हमने पद्धति शब्द का इस्तेमाल किया है, पर हीगेल के लिए द्वंद्वात्मकता कोई पद्धति नहीं है बल्कि इस रूह के उनके ज्ञातव्य की आत्म-गति का अनुसरण मात्र है। परिघटना (फ़िनोमेना) के ले ताल में गर्क हो कर बहते जाने के जरिये प्राप्त यह ज्ञान उस ज्ञाता/कर्ता के ज्ञान से बिलकुल अलग है जिसे दुनिया के बारे में एक बाहरी ज्ञान मात्र मिल पाता है। इसलिए हीगेल इसे घटनाक्रियाशास्त्र (फ़ेनोमेनोलॉजी) कहते हैं।

हीगेल की दूसरी चाल समाज और प्रकृति के बीच के विरोध को खत्म करते हुए पूरी कायनात को एक समग्र के रूप में देखती है जो दरअसल एक सर्वशक्तिमान रूह (एब्सोल्यूट स्पिरिट) के आत्म-विकास का ही वस्तुकृत रूप है। समाज का विकास और उसके जरिये मनुष्य की आजादी का हासिल होना दरअसल इस रूह के आत्म-वस्तुकरण की ही प्रक्रिया है, उसके चरितार्थ होने की प्रक्रिया है। यह रूह अपने आप में एक वस्तुगत समग्र है जो अपने क्रम-विकास में अपने ही भीतर भेद करती चलती है जिसके फलस्वरूप हम संसार की तमाम चीजों को अलहदा-अलहदा देख पाते हैं। रूह सार्वभौम है और उसके ये तमाम रूप जो विशिष्ट की शकल में हमारे सामने आते हैं उस सार्वभौम के लम्हे मात्र हैं जिन्हें हमें समग्र-सार्वभौम के ही रूप में व्याख्यायित करना होगा।

इस तरह हीगेल मानव समाज की एक ऐसी व्याख्या पेश करते हैं जिसमें ज्ञानोदय की मूलधारा से विरासत में मिले आदमी/मनुष्य के व्यक्तिकेंद्रिक तसव्वुर की जगह कायनात की एक मुकम्मल तस्वीर उभरती है जिसमें व्यक्ति और समाज, समाज और प्रकृति, तर्क और भावना, ज्ञाता-कर्ता और ज्ञातव्य/ज्ञेय आदि के बीच के फ़र्क गायब हो चुके हैं और मानवीय आजादी खुद रूह के चरितार्थ होने की प्रक्रिया में मनुष्य के तर्कवाद से लैस होने के जरिये अपने अंजाम तक पहुँचती है। मनुष्य ही रूह के वास्तविक रूप धारण करने का औज़ार है। अब इन दोनों के बीच कोई विरोध बाक़ी नहीं रह जाता है।

यहाँ से शुरू होता है हीगेल के दर्शन का सामाजिक व ऐतिहासिक पहलू। विश्व-रूह की यात्रा मानवीय आजादी के लिए चल रहे मानवीय प्रयासों के जरिये ही अमली शकल अख्तियार करती है, हालाँकि उसके बहार इस आजादी के कोई अर्थ भी नहीं हैं। हीगेल उन पहले दार्शनिकों में से हैं जिनका दर्शन सिर्फ़ मेटाफ़िज़िक्स की ऊँचाइयों में ही चक्कर नहीं कटता बल्कि राज्य और समाज के धरातल पर सीधे उतरता है। बकौल हर्बर्ट मार्क्यूज़ उनके दार्शनिक विचार समाज और राज्य की ज़मीन पर ही परवान चढ़ते हैं और इन

पदों द्वारा उनके नये दार्शनिक सरोकारों में केंद्रीय भूमिका अदा की जाती है। यही वजह है कि मार्क्यूज़ की नज़र में सामाजिक सिद्धांत (सोशल थियरी) के अविर्भाव का हीगेल के वैचारिक हस्तक्षेप के साथ सीधा रिश्ता है। उनके अनुसार हीगेल के विचारों के कई महत्वपूर्ण रुझान मार्क्सवादी सामाजिक सिद्धांत द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं और समाज-चिंतन में एक नये अध्याय का आगाज़ करते हैं।

बकौल मार्क्यूज़ हीगेल के साथ आधुनिक दर्शन के एक पूरे युग पर पर्दा गिरता है। उनका कहना है कि हीगेल आखिरी विचारक थे जिन्होंने अमूर्त स्तर पर दुनिया को तार्किकता के रूप में व्याख्यायित किया और प्रकृति व इतिहास दोनों को विचार और आज्ञादी के पैमानों पर आँका। उन्होंने यह क़बूल किया कि मनुष्यों द्वारा गढ़ी गयी समाज की ज़मीन ही तो है जिस पर रीज़न (तार्किकता) को चरितार्थ होना है। इस मायने में हीगेल का दर्शन, दर्शन-मात्र को अपने अंजाम तक ले आता है, जिसके बाद दर्शन का अंत होता है और क्रिटिकल सोशल थियरी की शुरुआत होती है।

हीगेल के विचार-तंत्र (सिस्टम) में राज्य और नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) में एक जोरदार फ़र्क़ देखने को मिलता है। यह फ़र्क़ इस बात से भी ताल्लुक रखता है कि हीगेल अपने ज़माने के समाज को लगातार अपने सिद्धांतीकरण का निशाना बनाते हैं। वे अपने इर्द-गिर्द नये सम्पत्तितान तबकों के उदय को देख रहे थे जिसके चलते आधुनिक समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ मनुष्य की जीवन शैली को और गैरों के साथ रिश्तों को निर्धारित करने लगे थे। वे देख रहे थे किस तरह इस स्थिति के चलते व्यक्तियों के बीच होड़ समाज के चरित्र को तय कर रही है। व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के इसी रुझान को वे नागर समाज का बुनियादी चरित्र मानते हैं। इसी वजह से नागर समाज उनके लिए आपसी होड़ की जगह थी यानी विशिष्ट स्वार्थों की ज़मीन, जिसके बरअक्स उन्होंने राज्य को वे सार्वभौमिकता की ज़मीन के रूप में देखा। राज्य उनके लिए तमाम विशिष्ट स्वार्थों से ऊपर उठ कर काम कर सकता था। इसी कारण राज्य को वे रीज़न (तार्किकता) का ठोस व अमली रूप मानते थे। उसी को वे नैतिक अस्तित्व की ज़मीन मानते थे। इसी कारण वे सामाजिक समझौते के तमाम सिद्धांतों को नकारते थे क्योंकि इस थियरी के मुताबिक राज्य मुख़ालिफ़ व्यक्तियों के बीच समझौते से बनी संस्था होती है। हीगेल के लिए राज्य बतौर सार्वभौम, विश्व-रूह के क्रमशः खुलने के फलस्वरूप वजूद में आता है। उसे अनगिनत व्यक्तिगत स्वार्थों से पैदा होने वाली शै के रूप में नहीं देखा जा सकता है।

हीगेल की प्रसिद्ध रचनाओं में *फ़िनोमिनोलॉजी ऑफ़ माइंड* (1807), *एलिमेंट्स ऑफ़ द फ़िलॉसॉफी ऑफ़ राइट*

(1821), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िलॉसॉफ़िकल साइंसेज़* (1816) और *द साइंस ऑफ़ लॉजिक* (तीन खंडों में, 1811-1816) शामिल हैं।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, ज़ाक लकाँ, ज्यॉ-फ़्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीज़ेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, प्रत्यक्षवाद और उसका समाज-विज्ञान पर प्रभाव, फ़्रेड्रिख नीत्शे, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

संदर्भ

1. आर. प्लांट (1983), *हीगेल : ऐन इंट्रोडक्शन*, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफ़ोर्ड.
2. हरबर्ट मार्क्यूज़ (1960), *रीज़न ऐंड रिवोल्यूशन : हीगेल ऐंड द राइज़ ऑफ़ सोशल थियरी*, बेकन प्रेस, बोस्टन.
3. ए. मेकलिंटायर (1987), *हीगेल : अ कलेक्शन ऑफ़ क्रिटिकल एसेज़*, एंकर, न्यूयॉर्क.
4. ई. केनेडी और एस. मेंडेस (1987), *वुमॅन इन वेस्टर्न पॉलिटिकल फ़िलॉसॉफी*, हारवेस्टर, ब्राइटन.
5. एस हुक (1962), *फ़्रॉम हीगेल टू मार्क्स : स्टडीज़ इन द इंटलेक्चुअल डिवेलपमेंट ऑफ़ कार्ल मार्क्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, न्यूयॉर्क.
6. जे.एन. किंडल (1958), *हीगेल : अ रिएग्जामिनेशन*, एलन ऐंड अनविन, लंदन.

— आदित्य निगम

गृहविहीनता

(Homelessness)

समाजशास्त्रीय संदर्भ में गृहविहीनता को मुख्यतः सामाजिक ताने-बाने से कटाव तथा स्थायी आवास के अभाव के आधार पर परिभाषित किया जाता है। व्यक्ति या परिवार की सामाजिक असम्बद्धता के आयाम को गृहविहीनता के घटक के तौर पर पिछली सदी के पाँचवे दशक में मान्यता मिलनी शुरू हुई थी। हालाँकि बहुत से बेघर लोगों का स्थायी निवासियों की तरह समाज की सांस्थानिक संरचनाओं से कोई गहरा और स्थायी नाता नहीं होता लेकिन यह कहना ग़लत होगा कि सभी बेघर व्यक्ति सामाजिक रूप से अलग-थलग होते हैं। बेघर लोगों का अपने जैसे अन्य लोगों, सगे-

संबंधियों, विभिन्न सहायता एजेंसियों तथा राज्य और सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों के जरिये समाज से किसी न किसी तरह का संबंध होता ही है। यही नहीं, ऐसा व्यक्ति या परिवार हमेशा गृहविहीनता की स्थिति में नहीं रहता। सड़क और मुख्यधारा की एजेंसियों और संस्थाओं के बीच उसकी आवा-जाही लगी रहती है। यानी कभी वह सड़क पर होता है तो कभी उसे स्थायी ठौर मिल जाता है। गृहविहीन लोगों का समाज से कटाव बहु-परती होता है इसलिए गृहविहीनता के संदर्भ में व्यक्ति के समाज से अलगाव को स्थिर विशेषता नहीं कहा जा सकता। नतीजतन गृहविहीनता को लेकर हाल में जो अवधारणाएँ गढ़ी गयी हैं उनमें आवासीय पहलू को ज्यादा प्रमुखता दी गयी है।

इस तरह अगर किसी व्यक्ति या परिवार के पास अपने सांस्कृतिक मानकों के हिसाब से रहने का कोई स्थायी निवास नहीं है तो उसे गृहविहीन माना जाता है। इस परिभाषा में ऐसे व्यक्ति और परिवार भी शामिल हैं जो सड़कों, पार्कों, वाहनों, और जर्जर इमारतों में रहते हैं। पीटर रोजी इसे निपट गृहविहीनता मानते हैं लेकिन गृहविहीनता में ऐसे लोग और परिवार भी शामिल किये जाते हैं जो वैसे तो समाज के संस्थाबद्ध ढाँचे के अंग होते हैं लेकिन उनके पास रहने के लिए अपनी कोई जगह नहीं होती और जिन्हें, नतीजतन, दूसरों के साथ जगह साझा करनी पड़ती है। इसके अलावा अपर्याप्त और घटिया आवासों में रहने वाले लोगों को भी गृहविहीन ही माना जाता है।

लेकिन गृहविहीनता की यह परिभाषा बहुत स्फ्रीत और आम-फ्रहम है। शोध की दृष्टि से इसे तर्कसंगत नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें बहुत सारे घटकों को शामिल कर लिया गया है, जिसके कारण समस्या पर फोकस कर पाना मुश्किल हो जाता है। इसके साथ दूसरी समस्या यह है कि आवास को अन्य गृहविहीन लोगों के साथ साझा करने तथा आवास की सुविधाओं को स्तरहीन या घटिया मानने की दलीलें राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एकसार नहीं हैं। उदाहरण के लिए ब्राजील में झोंपड़-पट्टी के इलाके फ़वेल्ला आदि में रहने वाले लोगों को गृहविहीन नहीं माना जाता। जबकि अमेरिका में इसी तरह के अस्थायी आवासों में रहने वाले लोगों को गृहविहीनों में शुमार किया जाता है। इन जटिलताओं के कारण पिछली शताब्दी के अंतिम दौर में गृहविहीनता को लेकर जो शोध कार्य किया गया उसमें गृहविहीनता के शाब्दिक पर्याय, सड़क, पार्क आदि सार्वजनिक स्थलों पर जीवन गुजारने को ही प्रमुखता दी गयी।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो गृहविहीनता की परिघटना शहरों के विकास और विस्तार से जुड़ी है। इसे तभी से एक ज्वलंत सामाजिक समस्या की तरह देखा जाता रहा

है। लेकिन बेघर आबादी के आकार और उसके लक्षणों से संबंधित विचार और धारणाएँ समय के साथ बदलती रही हैं।

प्राक्-औद्योगिक शहरों में भिखमंगों और बेघर लोगों की एक बड़ी जमात ऐसी थी जो वास्तव में शहर के विकास के साथ ही दृश्यमान हुई थी। यह एक चलायमान आबादी थी जिसका कोई निश्चित ठौर-ठिकाना नहीं होता था। तत्कालीन शहरों में आम रास्तों या सड़कों पर लोगों की एक भीड़ हमेशा चलती फिरती रहती थी क्योंकि उस समय घर, काम और आराम के बीच कोई किसी विभाजक रेखा की कल्पना नहीं की जाती थी। मार्टिन लूथर के *द बुक ऑफ बैगर्स* जैसे निंदापरक अपवादों को छोड़ दिया जाए तो उस समय समाज की आम परम्परा में भिक्षावृत्ति बुरी बात नहीं समझी जाती थी। परम्परा की एक धारा में तो गरीबी को बाकायदा आदर्श जीवन की तरह प्रतिष्ठित किया जाता था। ऐसे में प्राक्-औद्योगिक शहरों में गृहविहीनता को सामाजिक कलंक की तरह नहीं देखा जाता था। लेकिन औद्योगिक क्रांति से उपजे सामाजिक विस्थापन और खेतिहर अर्थव्यवस्था के अवसान से बेघर लोगों की संख्या में तेज़ी से इजाफ़ा हुआ। प्राक्-पूँजीवादी काल के बरक्स इस दौर में ऐसे लोगों के प्रति धारणाएँ बदलने लगी और उन्हें आवारा व असामाजिक माना जाने लगा तथा उनकी रोकथाम के लिए इंग्लैण्ड और उसके उपनिवेशों में क़ानून बनाये जाने लगे।

इस दिशा में पहला क़ानून 1597 में इंग्लैण्ड में बनाया गया। इसके तहत इंग्लैण्ड के बेघर लोगों को अमेरिका भेजा जाने लगा। लेकिन इन विस्थापित बेघरों को वहाँ भी बसने का अधिकार नहीं दिया गया। एक तरह से इसे अमेरिका में बेघर लोगों की पहली लहर कहा जा सकता है। इसके बाद अमेरिकी गृहयुद्ध में भी लोगों का बड़े पैमाने पर विस्थापन हुआ लेकिन उन्हें अंततः पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में खपा दिया गया। गृहविहीनता की तीसरी लहर अमेरिका के पश्चिमी क्षेत्र में बढ़ते उद्योगिकीकरण से जुड़ी है। अठारहवीं शताब्दी से शुरू हुए और 1920 तक चलने वाले इस दौर में उद्योग जगत को मज़दूरों की ज़रूरत पड़ रही थी। लेकिन उनके आवास के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। काम की तलाश में आये प्रवासी कामगार जिन जगहों पर रहते थे उन्हें होबोहेमिया कहा जाता था। बेघर मज़दूरों के जमावड़े और भी कई बड़े शहरों में मौजूद थे। बेघर लोगों की चौथी लहर आर्थिक महामंदी से शुरू होकर द्वितीय विश्व-युद्ध तक जारी रही। इस दौरान आश्रयहीन लोगों को या तो मज़दूरी के काम में लगाया गया या फ़ौज में भर्ती किया गया। इसके बाद पूर्व सैनिकों के पुनर्वास संबंधी कार्यक्रमों, और शहरी विकास के अन्य आशावादी कार्यक्रमों के कारण बहुत से योजनाकारों ने दावा किया भविष्य में विकसित दुनिया के शहरों में गृहविहीनता पूरी तरह ख़त्म हो जाएगी। लेकिन 1980 के

दशक में यह समस्या फिर प्रगट हो गयी। और आज तक मौजूद है। मौजूदा समय की बात करें तो गृहविहीनता दुनिया के हर बड़े शहर (दिल्ली, मुम्बई, बर्लिन, लंदन, पेरिस, साओ पाउलो और टोक्यो) आदि में आम परिघटना बन गयी है।

गृहविहीनता से संबंधित शोध को मुख्यतः तीन रूपों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी ऐसे शोध-कार्य की है जिसमें शहर या राष्ट्रीय स्तर के सर्वेक्षणों में गृहविहीनों की संख्या का आकलन, उनकी जनसांख्यिकी, अक्षमताओं, तथा गृहविहीनता और आवास की आवृत्ति का अध्ययन किया गया है। दूसरी तरह के शोध में गृहविहीनता के विभिन्न कारणों जैसे गरीबी की दर, बेरोजगारी, आवास की उपलब्धता, तथा विभिन्न शहरों में गृहविहीनता के स्तरों का अध्ययन शामिल है। शोध की तीसरी धारा गृहविहीनों की एथनोग्राफी पर केंद्रित है जिसमें मुख्यतः इस बात का जायजा लेने की कोशिश की गयी है कि बेघर लोग जीवनयापन के लिए क्या तरीके और उपाय अपनाते हैं।

गृहविहीनता की परिघटना मुख्यतः दो तरह की विस्थापनकारी प्रवृत्तियों का परिणाम मानी जाती है। सामाजिक समस्या के रूप में वह औद्योगिक क्रांति, युद्धों तथा आर्थिक मंदी की घटनाओं जैसे संरचनात्मक बदलावों की देन मानी जा सकती है। कई समाजशास्त्री इसके पीछे सस्ते आवास की कमी, वि-उद्योगीकरण तथा गिरती मजदूरी से उत्पन्न आर्थिक संकट को ज़िम्मेदार मानते हैं। शोधकर्ताओं के विभिन्न अध्ययनों से निकले निष्कर्षों को एक साथ रखें तो गृहविहीनता को जीवन निर्वाह की न्यूनतम ज़रूरतों और आर्थिक संसाधनों के बीच बढ़ते अंतराल के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, गृहविहीन व्यक्ति या परिवार अक्सर जीवन की बुनियादी ज़रूरतें ही नहीं जुटा पाते। उनकी आय और बचत इतनी नहीं होती कि वे स्थायी आवास के बारे में सोच सकें। लेकिन शोधकर्ताओं का एक तर्क यह भी है कि केवल इन संरचनात्मक कारणों के आधार पर ही किसी व्यक्ति की गृहविहीनता को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। उनके अनुसार इन कारणों के आधार पर यह तो बताया जा सकता है कि कौन से समूह या व्यक्ति गृहविहीन हो जाने के कगार पर खड़े हैं परंतु इनसे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि असुरक्षित कहे या माने जाने वाले अंततः लोगों में से कौन से व्यक्ति गृहविहीनता का शिकार होंगे। इस अंतर को कम करने के लिए शोधकर्ता गृहविहीन व्यक्तियों से संबंधित कुछ निजी तथ्यों जैसे उनकी जातीयता, शैक्षिक स्तर, सामाजिक पूँजी के पहलू यथा परिवार के साथ जुड़ाव आदि तथा व्यक्ति के साथ होने वाली ज़्यादातियों और मानसिक समस्याओं आदि की पड़ताल पर भी जोर देते हैं। इसे एक सामान्यीकृत कथन के तौर पर कहें तो गृहविहीनता की प्राथमिकता संरचनात्मक कारकों तथा जीवनगत परिस्थितियों की संधि रेखा पर ज़्यादा

सम्भव होती है।

गृहविहीन व्यक्ति या परिवार अपनी भौतिक, अंतर-वैयक्तिक तथा भावनात्मक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए जिस तरह की रणनीति अख्तिर करते हैं उन्हें किसी एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। जीवनयापन की ये रणनीतियाँ एक तरफ़ व्यक्ति की निजी विशेषताओं और रूझानों से तय होती है तो दूसरी तरफ़ उन पर सांठनिक, राजनीतिक और पर्यावरणीय संदर्भों का भी असर पड़ता है। विकसित देशों में गृहविहीनों के एक हिस्से को कई बार सांस्थानिक सहायता भी मुहैया करायी जाती है। गृहविहीनों के संबंध में यह धारणा प्रचलित है कि वे आमतौर पर अयोग्य होते हैं और उनका जीवन एकाकी और सामाजिकता से रिक्त होता है। लेकिन इस छवि को अंदर से देखें तो गृहविहीन लोगों के अंतर-वैयक्तिक संबंध इसलिए जटिल, भंगुर और अस्थायी होते हैं, क्योंकि अनिश्चितता के कारण वे किसी भी संबंध में सुरक्षित महसूस नहीं करते।

अंत में यह देखना ज़रूरी होगा कि गृहविहीनता को लेकर राज्य का औसत रवैया किस तरह रहा है। आमतौर पर बेघर लोगों की मुसीबतें कम करने के लिए रैनबसेरे, सहायता शिविर तथा सामुदायिक रसोई जैसी व्यवस्था की जाती है। भारत के महानगरों में उनके लिए सर्दियों के मौसम में रैनबसेरे स्थापित किये जाते हैं। कुछ छोटे नगरों में उनके लिए ज़िला प्रशासन की ओर से अलाव जलाने का प्रबंध भी किया जाता है। राज्य के लिए यह कल्याणकारी भंगिमा दिखाने का अवसर होता है और स्थानीय समाज के लिए परोपकार की भावना। अमेरिका में गृहविहीन व्यक्तियों और परिवारों के लिए 1987 में एक क़ानून पारित किया गया था जिसमें गृहविहीन और अक्षम हो चुके लोगों के लिए चिकित्सा सहायता आदि की व्यवस्था की गयी थी। गृहविहीनता से निपटने का एक तीसरा दृष्टिकोण व्यक्तिगत लक्षणों और समस्याओं पर फ़ोकस करने के बजाय आवास की अनुपलब्धता जैसे संरचनात्मक कारणों पर जोर देता है। गृहविहीनता को लेकर एक आम रवैया यह भी है कि ऐसे अनौपचारिक और अनियमित कार्यों पर प्रतिबंध लगा दिया जाए जिनसे बेघर लोग जीविका अर्जित करते हैं। एक दूसरी आमफ़हम राय यह भी दी जाती है कि सरकार को ऐसे क़ानून बनाने चाहिए ताकि बेघर लोग पार्कों जैसे सार्वजनिक स्थानों का बसेरे के तौर पर इस्तेमाल न कर सकें।

सामान्य रूप से गृहविहीनता से संबंधित शोधकार्य अभी तक उसके बुनियादी और ढाँचागत कारणों, लक्षणों तथा बेघर लोगों की जीवनगत रणनीति पर केंद्रित रहा है। उसमें सरकार और राज्य की तत्संबंधी नीतियों का क्षेत्र आमतौर पर उपेक्षित रहा है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इस स्थिति में एक बदलाव आया है। अब शोधकर्ताओं का ध्यान

गृहविहीनता के नीतिगत मुद्दों की ओर भी जाने लगा है। इस दिशा में उन कार्यकर्ताओं की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है जो गृहविहीनों के अधिकारों और हितों को लेकर मुहिम चलाते रहे हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानापन, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एम. बर्ट (1992), *ओवर द एज : द ग्रोथ ऑफ होमलैसनेस इन द नाइंटीन एट्रीज*, रसेल सेज फ़ाउंडेशन, न्यूयॉर्क.
2. एम. ड्यूनेइअर (1999), *साइडवॉक*, फ़रार, स्ट्रॉस एंड जिरॉक्स, न्यूयॉर्क.

—नरेश गोस्वामी

गृह-विज्ञान

(Home Science)

भारतीय स्त्रियों को कुशल आधुनिक गृहिणी बनाने के लिए तैयार किये गये पाठ्यक्रम को गृह-विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। इसे अमेरिका में प्रचलित घरेलू अर्थशास्त्र (होम इकॉनॉमिक्स) और ब्रिटेन में प्रचलित घरेलू विज्ञान (डोमेस्टिक साइंस) की शिक्षण सामग्री के मेल-जोल से तैयार किया गया है। इस पाठ्यक्रम में घरेलू अर्थशास्त्र, कढ़ायी-बिनायी-सिलायी, शिशुओं का लालन-पालन, नैतिक शिक्षा तथा गृह कार्यों में व्यवस्था एवं स्वच्छता जैसे विषय शामिल किये जाते हैं। गृह-विज्ञान के आलोचक इसे स्त्रियों को परिचित और सीमित घरेलू भूमिका में बाँधे रखने, पितृसत्ता कायम रखने और स्त्रियों को राजनीतिक रूप से निष्क्रिय बनाये रखने का षडयंत्र मानते हैं। दूसरी तरफ गृह-विज्ञान को भारतीय घर के दायरे में एक शुरुआती सीमा तक आधुनिकता और राष्ट्रवाद का वाहक भी माना जाता है। अपने समय में अनेक नारीवादी संगठनों ने भारत में गृह-विज्ञान को स्त्री-अधिकारों के साथ जोड़ कर देखा है। इस विमर्श में घर को विशिष्ट रूप से एक नारीवादी इकाई माना गया है। यह विमर्श मानता है कि गृह-विज्ञान द्वारा स्त्रियों को नवीनतम वैज्ञानिक तकनीकों और आधुनिकतम जानकारी द्वारा परिवार-निर्माण का अधिकार मिलता है। इस तरह गृह-विज्ञान आधुनिकता के घरेलू पक्ष की परिभाषा के एक घटक

के तौर पर उभरता है जिसके केंद्र में वह प्रशिक्षित स्त्री है जिसके हाथ में पूरे परिवार के शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास का दायित्व सौंपा गया है।

औपनिवेशिक काल में स्त्री-समानता और अधिकारों के लिए संघर्ष भी चल रहा था, और उसके साथ ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था बनाये रखने के लिए धर्म, परम्परा और स्थापित सामाजिक व्यवस्था का हवाला देकर स्त्रियों को हाशिये पर बनाये रखने की मुहिम भी जारी थी। इसी जद्दोजहद के बीच स्त्रियों को आधुनिक शिक्षा से जोड़ने के प्रयास किये गये, लेकिन उन्हें पुरुषों के समान शिक्षित करने में भारी अड़चनें थीं। इसी दौरान भारतीय स्त्रियों को उनके परिवेश के अनुरूप ही शिक्षित करने के लिए गृह-विज्ञान का पृथक अध्ययन क्षेत्र बनाया गया। गृह-विज्ञान में स्त्रियों को बेहतर गृहिणी बनाने के साथ एक शिक्षित नागरिक के रूप में विकसित करने का आदर्श भी शामिल था।

ब्रिटिश प्रशासन ने भी इस क्षेत्र में पहल ली। गृह-विज्ञान के अध्यापन के लिए स्त्री-अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम शुरू किया गया। प्रशासन ने भारतीय समाज-सुधारकों के साथ मिल कर सबसे पहले विधवा स्त्रियों को इस प्रशिक्षण के लिए चुना। प्रशिक्षण के उपरांत ये स्त्रियाँ आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बन सकती थीं। प्रशासन विधवाओं की स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक समाज-सुधार (जैसे विधवा-पुनर्विवाह, बाल-विवाह का निषेध) जैसे कार्यक्रमों को पुरातनपंथी समाज के भारी विरोध के कारण स्थगित करने का इच्छुक भी था। स्त्री-अध्यापकों के प्रशिक्षण के आरम्भिक दौर में अधिकतर औरतें ईसाई समुदाय या गैर-ब्राह्मण समाज से थीं। लेकिन उच्च वर्ण के कुछ प्रमुख भारतीय समाज सुधारकों ने अपने परिवार की स्त्रियों को भी इस प्रशिक्षण में भाग लेने के लिए उत्साहित किया। यूरोपियन माध्यमिक स्कूलों में गृह-विज्ञान के अध्यापन को लोकप्रिय बनाने के लिए अनेक नये शिक्षण व प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किये गये। गृह-विज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करने के लिए इसके प्रशिक्षण को प्रायोगिक एवं व्यावहारिक बनाते हुए शिक्षण-सामग्री में विज्ञान के बुनियादी सिद्धांतों का समावेश किया गया।

भारत में स्त्री-अधिकारों के लिए सार्वजनिक तौर पर अभियान चलाने का श्रेय ब्रह्म समाज के अग्रणी नेता देवेंद्र नाथ ठाकुर की पुत्री और रवींद्रनाथ ठाकुर की बहन स्वर्ण कुमारी देवी को जाता है। उन्होंने 1882 में कलकत्ता में विधवाओं और गरीब स्त्रियों को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए प्रशिक्षण देने की शुरुआत की थी। इसी प्रकार पण्डिता रमाबाई सरस्वती ने पुणे में आर्य स्त्री समाज और शारदा सदन के माध्यम से स्त्रियों को रोजगार दिलाने के लिए प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम चलाया था। 1910 में

स्वर्ण कुमारी देवी की पुत्री सरला देवी चौधरानी ने केवल स्त्रियों के लिए भारत स्त्री मण्डल की स्थापना करके स्त्रियों को उनके घर पर ही शिक्षित करने का अभियान चलाया था।

बीसवीं सदी के आरम्भ में स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने में युरोपियन मिशनरी एवं भारतीय समाज-सुधारक सबसे आगे थे। लेकिन अधिकतर स्त्रियों की शिक्षा अनौपचारिक तौर पर उनके घर पर निजी शिक्षकों के द्वारा दी जाती थी। दरअसल ज्यादातर सुधारक स्त्रियों की शिक्षा को उनके घरेलू दायित्वों से जोड़ना चाहते थे ताकि वे अपने परिवार-कुटुम्ब के लालन-पालन व जीवन शैली में गुणात्मक सुधार ला सकें। इस प्रकार की शिक्षा के लिए गृह-विज्ञान को सर्वोत्तम विषय माना गया। गृह-विज्ञान को भारतीय समाज में 'घर' की परिकल्पना के आदर्श स्वरूप को स्थापित करने और गृह-विज्ञान में प्रशिक्षित स्त्रियों को आदर्श पत्नी-माँ-गृह लक्ष्मी की भूमिका के वाहक की तरह पेश किया गया। गृह-विज्ञान ने भारतीय 'घर' को एक ऐसी प्रयोगशाला बना दिया जिसके दायरे में परिवार एवं समाज में व्यापक सुधारों के अभियान का आरम्भ हो सकता था। इसके साथ ही गृह-विज्ञान को प्रबुद्ध-सम्प्रांत भारतीयों में स्वीकार्य बनाने के लिए इसे एक ऐसे माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया गया जो भारतीय स्त्रियों को उनके अपने घर में सम्माननीय स्थान दिलाने और व्यापक समाज-सुधार में स्त्रियों को केंद्रस्थ करने में कारगर भूमिका निभा सकता था।

गृह-विज्ञान का विचार उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में प्रचारित की जा रही आदर्श स्त्री-छवि के अनुकूल भी बैठता था। गाँधी द्वारा आंदोलन का नेतृत्व सँभालने के बाद आम भारतीय स्त्रियों ने भी बड़ी संख्या में इसमें हिस्सा लेना शुरू किया। गाँधी ने स्त्रियों को जोड़ने के लिए माँ-पत्नी-बहन की आदर्श निःस्वार्थ छवि का दोहन किया। इसी तरह हिंदू राष्ट्रवादी व्याख्या में भी भारत भूमि को भारत माता के रूप में निरूपित किया गया। तमिलनाडु में भी तमिल भाषा के आंदोलन में तमिल भाषा व तमिल राष्ट्रियता को माँ के रूप में दर्शाया गया। तमिल अस्मिता के पुनरुद्धार और तमिल गौरव के मातृ रूप में प्रदर्शन के प्रचारकों ने स्त्रियों को गृह स्वामिनी और मातृ शक्ति के रूप में बढ़ावा दिया। परिणामस्वरूप न केवल आत्मसम्मान आंदोलन में स्त्रियों ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया, बल्कि तमिलनाडु के सामान्य लोगों में भी स्त्री-शिक्षा के प्रति जागरूकता विकसित हुई। तमिल आंदोलन के शीर्ष नेतृत्व ने भी स्त्रियों के लिए ऐसे सुधारों की हिमायत की जिनके द्वारा पत्नी व माँ की भूमिका को प्रभावकारी बनाया जा सके।

गृह-विज्ञान के भारतीयकरण और इसके प्रसार में कुछ भारतीय स्त्रियों ने प्रमुख भूमिका निभायी। धोंडो केशव कर्वे के विधवा आश्रम से संबंधित पार्वती बाई आठवले 1918 में अमेरिका यात्रा पर गयीं जहाँ उन्होंने देखा कि घरेलू कार्य में

वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग किस तरह भारत के लिए भी बेहद लाभप्रद हो सकता है। इसी प्रकार बड़ौदा के प्रधानमंत्री की पुत्री हंसा मेहता ने भी 1920-21 के दौरान अमेरिका में घरेलू अर्थशास्त्र के प्रशिक्षण का अध्ययन किया और वापस लौटकर महाराज सैयाजी राव विश्वविद्यालय में एक स्त्री महाविद्यालय की स्थापना की जिसमें गृह-विज्ञान पाठ्यक्रम का प्रारूप अमेरिकन विशेषज्ञ ऐन गिलक्रिस्ट स्ट्रांग ने तैयार किया। स्ट्रांग की 1931 में प्रकाशित पुस्तक *डोमेस्टिक साइंस फॉर हाई स्कूल इन इण्डिया* लम्बे समय तक भारतीय गृह-विज्ञान की सबसे मानक पाठ्य पुस्तक मानी जाती रही। भारतीय स्त्री संगठन ने भी गृह-विज्ञान के अनौपचारिक प्रशिक्षण का कार्यक्रम चलाया और इससे संबंधित जानकारी के प्रसार के लिए एक पत्रिका *स्त्रीधर्म* का प्रकाशन किया। इसमें अमेरिका से प्रकाशित *जर्नल ऑफ होम इकॉनॉमिक्स* के लेख प्रकाशित किये जाते थे। तमिलनाडु के मद्रास शहर में अनेक देवदासियों को समाज में पुनर्वासित करने के उद्देश्य से गृह-विज्ञान का प्रशिक्षण दिया गया ताकि वे घरेलू कर्मचारी की तरह काम में लगाई जा सकें। 1926 में भारतीय स्त्री संगठन की कुछ सदस्यों ने राजनीतिक स्वतंत्रता के स्थान पर स्त्रियों की शिक्षा को अपना प्राथमिक उद्देश्य माना और भारतीय स्त्री संगठन छोड़ कर अखिल भारतीय स्त्री सम्मलेन स्थापित किया। इस नये समूह ने स्त्रियों को गृह-विज्ञान में प्रशिक्षित करने के लिए 1932 में दिल्ली में लेडी इरविन कॉलेज की स्थापना की।

भारतीय स्त्री संगठन की एक संस्थापक सदस्य मालती पटवर्धन ने *स्त्रीधर्म* पत्रिका में गृह-विज्ञान के प्रचार के साथ ही स्त्रियों की सामाजिक समस्याओं, जैसे रोजगार, स्त्री-अधिकारों से संबंधित कानूनी-संवैधानिक परिवर्तन, पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार के विखंडन, ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के अंत जैसे विषयों को प्रमुखता से उठाया।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, दुर्गाबाई देशमुख, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. मैरी हेन्कोक (2001), 'होम साइंस ऐंड द नैशनलाइजेशन ऑफ़ डोमेस्टिसिटी इन कोलोनियल इण्डिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खंड 35, भाग 4.
2. मालविका कालेंकर (1994), 'वुमंस नेचर ऐंड एक्सेस टू एजुकेशन', सी. मुखोपाध्याय एवं एस. सेमोर (सम्पा.), *वुमंस, एजुकेशन ऐंड फैमिली स्ट्रक्चर इन इण्डिया*, बोल्डर वेस्टव्यू, यूएसए.